आठ श्रेष्ठ कहानियां

आठ श्रेष्ठ कहानियां

संपादक
सत्यकाम विद्यालंकार

शिक्षा भारती
मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली

भारत सरकार द्वारा नियंत्रित मूल्य पर
प्रदत्त किए कागज पर मुद्रित

मूल्य : रु० 2·50

मुद्रक : शिक्षा भारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली--३२

१६०२०

भूमिका

आज साहित्य की सभी विधाओं में कहानी अधिक लोकप्रिय है। प्रारम्भ में कहानी को लघुकथा, गल्प और आख्यायिका के नाम से भी अभिहित किया गया। वस्तुतः उपर्युक्त लघुकथा, गल्प और आख्यायिका में कहानी से मूलतः कुछ न कुछ भेद है। संस्कृत तथा हिन्दीतर भाषाओं में इनमें से कुछ शब्द 'कहानी' शब्द का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु हिन्दी में आज 'कहानी' एक स्वतन्त्र और सुविकसित विधा का नाम है और, जैसा कि ऊपर कहा गया है, साहित्य की अन्य सभी विधाओं से यह अधिक लोकप्रिय है।

कहानी मनुष्य के आदिमकाल से और-और कलाओं की तरह एक विशिष्ट अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। जैसे मनुष्य अपने विशेष चिन्तन की आकुलता को चित्रों में आंककर सन्तुष्ट हो जाता है, जैसे मनुष्य अपनी उमंगों के वेग को स्वर के उतार-चढ़ाव में बांधकर संगीत की सृष्टि कर मुग्ध हो लेता है, अपने अन्तर की वैसी ही किसी अकुलाहट को सहज-सरल मानवीय भाषा में प्रकट कर वह कहानी की रचना करता है। वैदिक काल से भी पहले तथा ऋग्वेद काल में भी सत्य और कल्पना-मिश्रित घटनाओं पर कथाएं प्राप्त होती हैं। उपनिषदों, बौद्ध-जातकों तथा जैन-ग्रन्थों में इस तरह की कथाएं भरी पड़ी हैं। रामायण, महाभारत तो कथा-ग्रंथ हैं ही। कथा के क्षेत्र में पंचतन्त्र तथा हितोपदेश, गुणाढ्य की बृहत्कथा आदि का भी अपना स्थान है।

इन कथाओं, गल्पों आदि से कहानी और आज की कहानी भिन्न है। 'कहानी' का मूल ढांचा पश्चिम से आया। और यह यहां की मानसिकता में जमकर खूब बढ़ी, फली-फूली। यहां कहानी के उसी आधुनिक रूप पर हम विचार करेंगे।

हिन्दी कहानी का विकास : तब से अब तक

हिन्दी कहानी के इतिहास की रूपरेखा स्थिर करते हुए आलोचकों ने 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' को पहली हिन्दी कहानी स्वीकार किया है।

यह कहानी ब्रजभाषा में श्री गोकुलनाथ ने लिखी थी। अठारहवीं शताब्दी में शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'राजा भोज का सपना' और इन्शाअल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इन दोनों कहानियों में मनोरंजन उद्देश्य है। भारतेन्दु-युग में मौलिक कहानियां नहीं लिखी गईं, बंगला और अंग्रेज़ी से अनूदित होकर कुछ कहानियां हिन्दी में तब अवश्य आईं। वैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न' नाम की कहानी लिखी परन्तु हिन्दी की आधुनिक मौलिक कहानी किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' ही है। यह १६०० ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। १० साल बाद आधुनिक हिन्दी कहानी के विकास में तेज़ी आई— जयशंकर प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री ने अनेक उत्कृष्ट मौलिक कहानियां लिखीं जो सही अर्थों में आधुनिक भी थीं।

प्रेमचन्द ने कहानी और उपान्यास दोनों ही विधाओं की उत्कृष्ट रचनाओं से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। उन्होंने कई उपान्यास तथा ३०० कहानियां हिन्दी को दीं। उनकी कहानियां विविध स्थितियों, विविध क्षेत्रों और विविध प्रसंगों पर आधारित हैं। द्विवेदी-युग के इस दौर में अधिकतर लेखकों ने आदर्शमूलक भावना-प्रधान कहानियां लिखीं परन्तु आगे चलकर यशपाल, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अश्क, अज्ञेय, सुदर्शन, महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव आदि ने एक नया मोड़ देकर कहानी को मनोवैज्ञानिक धरातल पर विकसित किया।

गत पच्चीस वर्षों से जहां उनमें से कुछ लेखक लिखते रहे हैं, नई पीढ़ी के लोग भी इस क्षेत्र में उभरकर सामने आए हैं और आ रहे हैं। राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, रेणु, निर्मल वर्मा, अमरकान्त, उषा प्रियंवदा, ज्ञानरंजन, महीपसिंह ने अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से कहानी को अप्रत्याशित मोड़ दिया है। वर्तमान लेखन में कोई स्वर स्पष्ट और विश्वस्त नहीं है। अनेक वादों के नाम पर कहानीकार छोटे-छोटे खेमों में बंटकर लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने की कोशिश कर रहे हैं। इस शोरगुल, भाग-दौड़ और उखाड़-पछाड़ से सृजन के क्षेत्र में जो गड़बड़ी और अव्यवस्था फैल गई है, आशा है वह छंट जाएगी और इसके बाद कहानी का एक सुविकसित और परिपुष्ट रूप सामने आएगा।

कहानी—परिभाषा, तत्त्व, वर्गीकरण और शैलियां

परिभाषा—कहानी क्या है ? कहानी की परिभाषा जानकर लोगों ने अलग-अलग ढंग से दी है । कहानी गमले में लगा फुल का पौधा है—उपान्यास एक बगीचा है, प्रेमचन्द के इस मत से कहानी उपान्यास के किसी एक अंग की इकाई-सी लगती है—शायद लेखक की अपनी 'लिखने की विधा' में कहीं ऐसा कुछ फर्क हो। परन्तु कहानी के बारे में ऐसे मत भी हैं जो बिलकुल भिन्न हैं । जहां कहानी जीवन के किसी एक क्षण का आकस्मिक, अप्रत्याशित फिर भी सहज अर्थाभास है वहां उपान्यास पूरे जीवन या जीवन के बहुत बड़े अंश का पूर्व-नियोजित, पूर्व-विदित अर्थाभास है (कला और साहित्य जीवन की पुनर्व्याख्या और पुनर्मूल्यांकन ही हो तो) । वस्तुतः कहानी अब तक किसी एक परिभाषा के ढांचे में बंधकर नहीं रही है । विकासमान वस्तु के साथ उसकी परिभाषा बदलती रहती है ।

तत्त्व—जिन छः वस्तुओं से कहानी का निर्माण होता है वे हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्र या चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) देश-काल या वातावरण, (५) शैली और (६) उद्देश्य ।

कथावस्तु—पात्रों, कथोपकथनों, शैली का आधार कथावस्तु है, जहा ये तत्त्व मिलकर कहानी बनते हैं । कथावस्तु कहानी का वह तत्त्व है जो कहानी में ढांचे का काम करता है । कथावस्तु जीवन में चारों ओर बिखरी पड़ी है । यह लेखक पर निर्भर है कि वह किसी घटना को, किसी दृश्य को किस दृष्टिकोण से ग्रहण करता है; किसको ग्रहण करता, किसको नहीं करता । कथावस्तु की सहजता पर आधारित कहानी अच्छी कहानी बनने की सम्भावना लिए रहती है ।

पात्र या चरित्र-चित्रण—वर्णन, संकेत, कथोपकथन और घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण किया जाता है । वर्णन द्वारा किया गया चरित्र-चित्रण प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक कहा जाता है जिसमें लेखक पात्र के सम्बन्ध में स्वयं बता देता है कि वह पात्र कैसा है । संकेतात्मक चरित्र-चित्रण में पात्र की क्रियाओं और गतिविधियों का उल्लेख करके उसका चरित्र दिखाया

जाता है । कथोपकथनात्मक चरित्र-चित्रण में वार्तालाप द्वारा और घटनात्मक चरित्र-चित्रण में घटनाओं के साथ पात्रों की प्रतिक्रियाओं द्वारा चरित्र उभारा जाता है ।

कथोपकथन—कथोपकथन कहानी में इस दृष्टि से महत्त्व रखता है कि वह प्रत्यक्षतः लेखक द्वारा किसी पात्र का परिचय न दिया जाकर पात्र स्वयं अपना परिचय और उद्देश्य इसके द्वारा प्रकट कर देता है । कथोपकथन पात्र की आन्तरिकता के चित्रण में सहायक है ।

देश-काल व वातारण—कहानी की स्वाभाविकता के लिए देश-काल व वातावरण की संगति आवश्यक है । इसके बिना कहानी अस्वाभाविक और अविश्वसनीय लग सकती है ।

शैली—किसी बात को कैसे कहा जाए—यह शैली है । पात्रों और चरित्रों तथा घटनाओं की गम्भीरता या हल्केपन को किन उपयुक्त शब्दों में ज़्यादा अच्छी तरह उभारकर दिखाया जा सकता है—शब्दों के चयन के इस ढंग को शैली कहते हैं । शैली में वर्णन की तमाम बारीकियां आ जाती है । शैली पात्र के साथ कहानी और कहानीकार को भी अभिव्यक्ति दे देती है । आज की कहानियों में लिखने और कहने की शैली का ज़्यादा महत्त्व है । शैली एक कहानी-लेखक की शायद सबसे बड़ी कसौटी है ।

उद्देश्य—कहानी का कोई न कोई उद्देश्य रहता है । जब सिर्फ मनोरंजन के लिए कहानियां लिखी जाती थीं, तब भी कहानी का एक उद्देश्य होता था । आज की कहानी ज़्यादा गम्भीर और इसीलिए उद्देश्यपूर्ण हो गई है । कहानी चूंकि कहानीकार के मन-मस्तिष्क के आलोड़न का फल है, कहीं बहुत भीतर की आवाज़ है; अतः उसका कोई न कोई उद्देश्य होना चाहिए । आज या पुराने समय में उद्देश्यपूर्ण कहानियों ने मानव-चरित्र में बहुत बड़ा परिवर्तन किया है । परन्तु कहानी में उद्देश्य ऐसा न होना चाहिए कि वह कहानी से अलग दिखाई दे या कहानी उससे अलग लगे या उद्देश्य कहानी पर थोपा गया लगे । अच्छी कहानी में उद्देश्य कहानी के बीच से उभरता है और वह पाठक के मन में अज्ञात रूप से बस जाता है । अच्छी कहानी का उद्देश्य जीवन को दृष्टि प्रदान करना है । 'उपलब्धि' शब्द का शायद यही आशय है ।

कहानी—वर्गीकरण, लेखन शैली

वर्गीकरण—घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, वर्णन-प्रधान और भाव-प्रधान या वातावरण-प्रधान—ग्राम तौर पर लिखी जाने वाली कहानियों को देखकर कहानियों का उपर्युक्त वर्गीकरण किया गया है। घटना, चरित्र-वर्णन, भाव या वातावरण किसी कथानक को इनमें से जिस तत्त्व को प्रधानता देकर प्रकट किया जाए, कहानी के वर्गीकरण में कहानी को उसी कोटि में रखा जाएगा। इन तत्त्वों में से किसी भी एक तत्त्व को प्रधानता देकर अच्छी कहानियां लिखी जा सकती हैं। साथ ही बाकी तत्त्व भी किसी न किसी रूप में उसमें रहेंगे।

लेखन-शैली—वर्णन, संलाप या कथोपकथन, आत्मचरितात्मक, पत्रात्मक। वर्णन-शैली में लेखक तटस्थ होकर पात्रों को प्रस्तुत करता है। संलाप या कथोपकथन में वार्तालाप द्वारा पात्रों का व्यक्तित्व उभरता है। आत्मचरितात्मक शैली में पात्र की निजी एकपक्षीय बातें या आपबीती की अभिव्यक्ति होती है। पत्रात्मक शैली में पत्राचार के किसी एक पक्ष—अर्थात् पत्र-लेखक और पत्र पानेवाले में से किसी एक की पत्र में लिखी घटनाओं का वर्णन होता है। सभी शैलियां भिन्न-भिन्न स्थितियों में और अभिव्यक्तियों के लिए उपयुक्त हो सकती हैं परन्तु आज इनमें से सबसे प्रचलित और मान्य वर्णन-शैली ही है। इसमें पात्र प्रत्यक्ष रूप में सामने आते हैं और उनके वांछित पहलुओं को आसानी से दिखाया जा सकता है। अतः पाठक संप्रेषण की दृष्टि से कहानी को सही ढंग से और जल्दी ग्रहण करते हैं।

कहानी के अंग

शीर्षक, प्रारम्भ, मुख्य अंश, पराकाष्ठा या चरमसीमा और अन्त—कहानी के ये अंग कहानी को देखते हुए स्पष्ट हो जाते हैं, फिर भी आलोचनात्मक दृष्टि से इन अंगों का औचित्य और विश्लेषण पाठक के मन में स्पष्ट रहे तो यह एक उत्तमतर पठन कहा जाएगा। किसी कहानी का कोई नाम या शीर्षक रहना ही चाहिए। यह कहानी लिखने से पहले और लिख लेने के बाद भी चुना जा सकता है। कहानी का केन्द्रबिन्दु जिस ओर लक्ष्य

करता हो शीर्षक का आशय उसी ओर संकेत करे—यही अच्छा शीर्षक है। कहानी की शुरुआत को प्रारम्भ कहते हैं। सामान्यतः कहानीकार इस भाग में वह कुछ कहने की तैयारी करता है जिसका स्पष्टीकरण या परिसमाप्ति वह आगे चलकर करेगा। प्रारम्भ किसी भी सम्बन्धित अंश या घटना को लेकर किया जा सकता है। कहानी के आद्यन्त वर्णन या कथन में एक मुख्य अंश होता है जो लेखक के मूल कथन को उद्भासित करता है, उसे सन्तुलित रखता है। यह कहानी के शुरू, मध्य या अन्तिम भाग में कहीं भी आ सकता है। परन्तु सामान्यतः वह मध्य में ही आता है। **चरमसीमा और अन्त**—चरमसीमा में लेखक अपना कथ्य वहां तक पूरा कर लेता है जिससे आगे वह एक तरह से अपनी निष्पत्ति या कहानी का निचोड़ दे देता है। चरमसीमा पर कहानी की घटनाएं और पात्र अपने लक्ष्यविन्दु के उच्चतम तक आकर, अन्त में एक निष्पत्ति में परिणत हो जाते हैं। प्रारम्भ की तरह अन्त की भी कोई परिभाषा नहीं—यह लेखक की अपनी दृष्टि पर निर्भर करता है कि वह कहानी में उठाई गई बात को कहां जाकर और कैसे समाप्त करना चाहता है। अन्त महत्त्वपूर्ण हो तो पूरी कहानी का अर्थ बदल सकता है। एक-एक शब्द, एक-एक घटना, एक-एक पात्र नये रूप में, नये अर्थ में सामने आ जाता है।

प्रस्तुत संग्रह

प्रस्तुत संग्रह में आठ कहानियां संगृहीत हैं। सरलता, रोचकता और उपादेयता को दृष्टि में रखकर प्रत्येक लेखक की प्रतिनिधि रचना के रूप में इन कहानियों का चुनाव किया गया है। स्थानाभाव से चाहते हुए भी कुछ लेखकों की रचना न दी जा सकीं। उनके प्रति हम क्षमाप्रार्थी हैं।

श्री जयशंकर प्रसाद की कहानी 'गूदड़ साईं' उनकी श्रेष्ठ कहानियों में से हैं। मनुष्य की ममता और स्नेह का यह निश्छल और प्रच्छन्न चित्र मन को द्रवित कर देता है। प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' में देश के मानसिक पतन पर एक भारी व्यंग्य और आज की स्थिति के लिए चुनौती है। 'वीर बादल' आचार्य चतुरसेन की एक प्रतिनिधि कहानी है। राजपूती शौर्य का चित्रण इस कहानी में जैसा हुआ है, अन्यत्र बहुत कम देखने को

मिलता है। 'प्रेम-तरु' में श्री सुदर्शन ने माता के वात्सल्य भाव को साकार कर दिया है। मनुष्य की मोह-ममता बेल की तरह कोई आसरा चाहती हैं, मनुष्य को स्नेह और ममता देने के लिए मनुष्य नहीं मिले तो वह जड़-मूक पेड़ को भी अपना यह धन लुटा सकता है ! 'दुःख' में श्री यशपाल ने यथार्थ दुःख को दिखाया है, नकली दुःख पर व्यंग्य किया है। भगवतीचरण वर्मा की कहानी 'प्रायश्चित्त' में अन्धविश्वास पर एक गहरा व्यंग्य है। 'गूंगे' में श्री रांगेय राघव ने उन दुःखों का चित्रण किया है जिनके लिए कोई भाषा नहीं, जिनकी कोई अभिव्यक्ति नहीं। मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' में जात-पांत, भेद-भाव, धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर बंटवारे पर गहरा व्यंग्य है। इस कहानी का दर्द देर तक कचोटता रहता है।

इन आठ कहानियों में मानव-मन की विविध स्थितियों का चित्रण हुआ है। देश-काल, पात्र और स्थितियों की विविधता बनाए रखकर संग्रह को रोचक बनाया गया है। आशा है, साहित्य के पाठकों और विद्यार्थियों को यह संग्रह रुचेगा। अन्त में उन सभी लेखकों के प्रति हम आभार प्रकट करते हैं जिनकी उत्कृष्ट रचनाओं ने इस संग्रह को एक प्रतिनिधि संकलन बनाने में योग दिया है।

—संपादक

क्रम

कहानी और कहानीकार

जयशंकर प्रसाद



प्रसाद जी का जन्म काशी के एक धनी-मानी वैश्य परिवार में सन् १८८९ में हुआ था। उन्होंने स्कूली शिक्षा केवल ८वीं कक्षा तक प्राप्त की। तत्पश्चात् घर पर ही हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और अंग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त किया।

कविता की ओर आपका झुकाव बाल्यकाल से ही था। कविरूप में विख्यात होने के बाद आपने नाटक, उपन्यास और कहानियां भी लिखनी आरम्भ कर दीं। प्रसाद जी की भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता है। भावों के माधुर्य और कला-सौंदर्य की दृष्टि से उनकी रचनाएं अद्वितीय बन पड़ी हैं।

१९३७ में आपका निधन हुआ। उसके कुछ काल बाद आपके प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'कामायनी' पर मंगलाप्रसाद पारि-तोषिक प्रदान किया गया।

प्रसाद जी एक नये साहित्यिक युग के निर्माता थे, साथ ही एक नई विचार-शैली, नई भाव-धारा और नवीन दर्शन के उद्भावक भी। हिन्दी के सर्वमान्य श्रेष्ठ कवि और कथा-साहित्य के अग्रणी लेखक थे। उन्होंने मौलिक कहानियां तब लिखीं, जब हिन्दी में कहानी-लेखक विरल था। अपनी उत्कृष्ट नाट्यकृतियों से उन्होंने हिन्दी नाट्य-परम्परा को पुष्ट किया।

साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति के साथ-साथ उन्होंने साहित्यिक तथा खोज-सम्बन्धी निबन्ध भी लिखे, जिनका स्थान हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण है। उनकी कहानियां अपनी विशिष्ट शैली के कारण अपना एक अलग स्थान रखती हैं। भाषा और भाव के अनुकूल रसों का परिपाक जैसा प्रसाद जी की रचनाओं में उपलब्ध है, अन्यत्र नहीं।

'कामायनी' नामक काव्य आपकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। आपके उपन्यासों, कहानियों और नाट्य-कृतियों का भी अपना अलग वैशिष्ट्य है।

प्रस्तुत कहानी

'गूदड़ साईं' प्रसाद जी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। मनुष्य की ममता और स्नेह का यह निश्छल और प्रच्छन्न चित्र मन को द्रवित कर देता है। सांसारिक मोह-ममता से मुक्त एक साधु के हृदय की स्नेहाकांक्षा मनुष्य-चरित्र की कोमलता और मानव-मानव में अनिवार्य सम्बन्ध-सूत्रों को दर्शाती है। निःस्व और अकिंचन 'गूदड़ साईं' अपनी सहजता, सरलता और उदारता के कारण मन पर सदा-सदा के लिए अंकित हो जाने वाला पात्र है।

गूदड़ साईं
(जयशंकर प्रसाद)

"साईं ! ओ साईं ! !" एक लड़के ने पुकारा ! साईं घूम पड़ा। उसने देखा कि एक आठ वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है।

आज कई दिन पर उस मुहल्ले में साईं दिखलाई पड़ा है। साईं वैरागी था, माया नहीं, मोह नहीं। परन्तु कुछ दिनों से उसकी आदत पड़ गई थी कि दोपहर को मोहन के घर जाता, अपने दो-तीन गन्दे गूदड़ यत्न से रखकर उन्हीं पर बैठ जाता और मोहन से बातें करता। जब कभी मोहन उसे गरीब और भिखमंगा जानकर मां से अभिमान करके पिता की नज़र बचाकर कुछ साग-रोटी लाकर दे देता, तब उस साईं के मुख पर पवित्र मैत्री के भाव का साम्राज्य छा जाता, गूदड़ साईं उस समय दस बरस के बालक के समान अभिमान, सराहना और उलाहना के आदान-प्रदान के बाद उसे बड़े चाव से खा लेता; मोहन की दी हुई एक रोटी उसकी अक्षय तृप्ति का कारण होती।

एक दिन मोहन के पिता ने देख लिया। वह बहुत बिगड़े। वह थे कट्टर आर्यसमाजी, 'ढोंगी फकीरों पर उनकी साधारण और स्वाभाविक चिढ़ थी।' मोहन को डांटा कि वह इन लोगों के साथ बातें न किया करे। साईं हंस पड़ा, चला गया।

उसके बाद आज कई दिन पर साईं आया और वह जान-बूझकर उस बालक के मकान की ओर नहीं गया; परन्तु पढ़कर लौटते हुए मोहन ने उसे देखकर पुकारा और वह लौट भी आया।

"मोहन !"

"तुम आजकल आते नहीं ?"

"तुम्हारे बाबा बिगड़ते थे।"

"नहीं; तुम रोटी ले जाया करो।"

"भूल नहीं लगती।"

"अच्छा, कल ज़रूर आना; भूलना मत !"

इतने में एक दूसरा लड़का साईं का गूदड़ खींचकर भागा। गूदड़ लेने के लिए साईं उस लड़के के पीछे दौड़ा। मोहन खड़ा देखता रहा, साईं आंखों से ओझल हो गया।

चौराहे तक दौड़ते-दौड़ते साईं को ठोकर लगी, वह गिर पड़ा। सिर से खून बहने लगा। खिझाने के लिए जो लड़का गूदड़ लेकर भागा था वह डर से ठिठका रहा। दूसरी ओर से मोहन के पिता ने उसे पकड़ लिया, दूसरे हाथ से साईं को पकड़कर उठाया। नटखट लड़के के सिर पर चपत पड़ने लगी; साईं उठकर खड़ा हो गया।

"मत मारो, मत मारो। चोट आती होगी !" साईं ने कहा—और लड़के को छुड़ाने लगा ! मोहन के पिता ने साईं से पूछा, "तब चीथड़े के लिए दौड़ते क्यों थे ?"

सिर फटने पर भी जिसको रुलाई नहीं आई थी, वह साईं लड़के को रोते देखकर रोने लगा। उसने कहा, "बाबा, मेरे पास दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन 'रामरूप' भगवान् को प्रसन्न करता !"

"तो क्या तुम इसीलिए गूदड़ रखते हो ?"

"इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान् और मैं उनसे लड़कर छीन लेता हूं; रखता हूं फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए, उनके मनोविनोद के लिए। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं !" इतना कहकर बालक का मुंह पोंछते हुए मित्र के समान गलबांही डाले हुए साईं चला गया।

मोहन के पिता आश्चर्य से बोले, "गूदड़ साईं ! तुम निरे गूदड़ नहीं; गुदड़ी के लाल हो !"

कहानी और कहानीकार

प्रेमचन्द



प्रेमचन्द का जन्म लमही ग्राम, ज़िला बनारस में सन् १८८० ई० में हुआ। आपका घरेलू नाम धनपतराय था। प्रेमचन्द आपका साहित्यिक नाम था। थोड़ी ही उम्र में ये माता-पिता से हीन हो गए। बहुत परिश्रम करके स्कूली शिक्षा पूरी की। अध्यापन का कार्य करके इन्होंने बी० ए० पास किया और डिप्टी इन्स्पेक्टर हो गए। उपन्यास-कहानियां पढ़ने में इनकी बचपन से रुचि थी। १३ साल की उम्र में ही इन्होंने पहली कहानी लिखी। इनकी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' 'ज़माना' नामक उर्दू पत्रिका में १९०७ में छपी। पहली हिन्दी कहानी १९१६ में 'सरस्वती' में छपी। असहयोग आन्दोलन में इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और स्वतंत्र लेखन में जुट गए। 'गोदान', 'रंगभूमि' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'मानसरोवर' (८ भागों में) तथा अन्य कुछ कहानी-संग्रह हैं। हिन्दी-उर्दू लेखन को इन्होंने नया मोड़ दिया।

प्रस्तुत कहानी

'शतरंज के खिलाड़ी' में देश के मानसिक पतन पर गहरा व्यंग्य है, साथ ही आज की स्थिति के लिए चुनौती भी। घर-

परिवार और समाज के उत्तरदायित्व से हीन व्यक्ति शतरंज के मामूली-से मोहरों को बचाने के लिए अपने प्राणों की बलि तक दे सकते हैं! अन्धविवेक, काहिली और झूठी शान पर यह करारी चोट है। अच्छे कथानक और स्पष्ट सीधी अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'शतरंज के खिलाड़ी' प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है।

पुस्तक तनिक भी क्षतिग्रस्त कर लाने अथवा खो देने पर उसका वर्तमान अनुमानित मूल्य मय जिल्द एवं रजि० डाक व्यय जमा देना होगा। मंत्री का निर्णय निर्विवाद रूप से मान्य होगा।

शतरंज के खिलाड़ी

(प्रेमचन्द)

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आंखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसीको खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे, यहां तक कि फकीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियां न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी खाली नहीं है)। इसलिए अगर मिर्ज़ा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र

करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिन्ता न थी; घर में बैठे चखौतियां करते थे। आखिर और करते ही क्या! प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके, बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दांव-पेच होने लगते। फिर खबर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता—खाना तैयार है। यहां से जवाब मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख्वान बिछाओ। यहां तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिर्ज़ा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिए उन्हींके दीवानखाने में बाज़ियां होती थीं। मगर यह बात न थी कि मिर्ज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, मुहल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियां किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसीको इसकी चाट पड़े। आदमी दीन, दुनिया, किसीके काम का नहीं रहता, न घर का, न घाट का। बुरा रोग है। यहां तक कि मिर्ज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं, पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वे सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्ज़ाजी भीतर आते थे। हां, नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान मांगे हैं? कह दो, आकर ले जाएं। खाने की फुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खाएं चाहे कुत्ते को खिलाएं। पर रूबरू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उन्हें अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्ज़ाजी अपनी सफाई देने के लिए सारा इल्ज़ाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा, "जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहां से दवा लावें। दौड़, जल्द कर।" लौंडी गई, तो मिर्ज़ाजी ने कहा, "चल अभी

आते हैं।" बेगम साहबा का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहां कि उनके सिर में दर्द हो और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा, "जाकर कह, अभी चलिए, नहीं वह आप ही हकीम के यहां चली जाएंगी।" मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे; दो ही किश्तों में मीर साहब की मात हुई जाती थी। झुंझलाकर बोले, "क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?"

मीर—अरे तो जाकर सुन भी आइए न। औरतें नाज़ुक-मिज़ाज होती ही हैं।

मिर्ज़ा—जी हां, चला क्यों न जाऊं! दो किश्तों में आपको मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाए। पर जाइए, सुन आइए। क्यों ख्वाम-ख्वाह उनका दिल दुखाइएगा?

मिर्ज़ा—इसी बात पर मात ही करके जाऊंगा।

मीर—मैं खेलूंगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।

मिर्ज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहां। सिर-दर्द खाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ भी हो, उनकी खातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिर्ज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूं।

मीर—हर्गिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊंगा।

मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अन्दर गए तो बेगम साहबा ने त्योरियां बदलकर लेकिन कराहते हुए कहा, "तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाए, पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम जैसा आदमी हो।"

मिर्ज़ा—क्या कहूं, मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूं।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं; या सबका सफाया कर डाला?

मिर्ज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुतकार क्यों नहीं देते?

मिर्ज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊंचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुतकारे देती हूं। नाराज़ हो जाएंगे, हो जाएं, कौन किसीकी रोटियां चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हिरिया, जा बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियां अब न खेलेंगे, आप तशरीफ ले जाइए।

मिर्ज़ा—हां-हां, कहीं ऐसा गज़ब भी न करना! ज़लील कराना चाहती हो क्या? ठहर हिरिया, कहां जाती है!

बेगम—जाने क्यों नहीं देते! मेरा ही खून पिए, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको तो जानूं।

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानखाने की तरफ चलीं। मिर्ज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीवी की मिन्नतें करने लगे, "खुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसैन की कसम, मेरी ही मैयत देखे जो उधर जाए।" लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानखाने के द्वार तक गईं; पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पांव बंध-से गए। भीतर झांका। संयोग से कमरा खाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिए थे, और अपनी सफाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुंचकर बाज़ी उलट दी; मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेंक दिए, कुछ बाहर; और किवाड़ अंदर से बन्द करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बन्द हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिर्ज़ा ने कहा, "तुमने गज़ब किया!"

बेगम—अब मीर साहब इधर आए, तो खड़े-खड़े निकलवा दूंगी। इतनी लौ खुदा से लगाते तो क्या गरीब हो जाते! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहां चूल्हे-चक्की की फिक्र में सिर खपाऊं! जाते हो हकीम

साहब के यहां कि अब भी ताम्मुल है ?

मिर्ज़ा घर से निकले तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुंचे और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले, "मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रखा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इन्तज़ाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार ?"

मिर्ज़ा—खैर, यह तो बताइए, अब कहां जमाव होगा ?

मीर—इसका क्या गम। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस, यहीं जमें।

मिर्ज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊंगा ? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वे इतना बिगड़ती थीं, यहां बैठक होगी तो शायद ज़िंदा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी, बकने भी दीजिए; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जाएंगी। हां, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइए।

(२)

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से उनका घर से दूर रहना भी उपयुक्त समझती थीं। इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं, बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गम्भीर है; लेकिन जब दीवानखाने में बिसात बिछने लगी और मीर साहब दिन-भर घर में रहने लगे तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाज़े पर झांकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियां मारा करते थे। घर में चाहे कोई आए, चाहे कोई जाए, उनसे कुछ मतलब न था। आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म, कभी मिठाई का। और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भांति नित्य जलता ही रहता था। बेगम साहबा से जा-जाकर कहते, "हुजूर,

मियां की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई ! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गए। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी ! घड़ी-आध घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है। खैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं, हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लाएंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं, घर पर कोई-न-कोई आफत ज़रूर आती है। यहां तक कि एक के पीछे मुहल्ले-के-मुहल्ले तबाह होते देखे गए हैं। सारे मुहल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आका की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें।" इसपर बेगम साहबा कहतीं, "मैं तो खुद इसे पसन्द नहीं करती; पर वह किसीकी सुनते ही नहीं तो क्या किया जाए।"

मुहल्ले में भी दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भांति-भांति के अमंगल की कल्पनाएं करने लगे, "अब खैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है तो मुल्क का खुदा ही हाफिज़। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फरियाद सुनने वाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची चली आती थी और वह वेश्याओं में, भांड़ों में और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अंग्रेज कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहां तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे, किसी के कानों पर जूं न रेंगती थी।

खैर, मीर साहब के दीवानखाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए। नये-नये नक्शे हल किए जाते; नये-नये किले बनाए जाते; नित नई व्यूह-रचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती; तू-तू, मैं-मैं तक नौबत आ जाती। पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती; मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते, मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात-भर की निद्रा के साथ

सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानखाने में आ पहुंचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरंज की दलदल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फौज का अफसर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुचा। मीर साहब के होश उड़ गए! यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किसलिए हुई! अब खैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाज़े बन्द कर लिए। नौकरों से बोले, "कह दो, घर में नहीं हैं।"

सवार—घर में नहीं, तो कहां हैं?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?

सवार—काम तुझे क्या बताऊं? हुज़ूर में तलबी है, शायद फौज के लिए कुछ सिपाही मांगे गए हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी? मोरचे पर जाना पड़ेगा तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा।

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जाएगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद आऊंगा। साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा कांप उठी। मिर्ज़ाजी से बोले, "कहिए जनाब, अब क्या होगा?"

मिर्ज़ा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।

मीर—कमबख्त कल फिर आने को कह गया है!

मिर्ज़ा—आफत है, और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहां किसे खबर होगी? हज़रत आकर आप लौट जाएंगे।

मिर्ज़ा—वल्लाह, आपको खूब सूझी? इसके सिवा और कोई तदबीर ही नहीं।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, "तुमने खूब धता बताई।" उसने जवाब दिया, "ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूं। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब

भूलकर भी न रहेंगे।"

(३)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुंह-अंधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल में एक छोटी-सी दरी दबाए; डिब्बे में गिलोरियां भरे, गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसफउद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसजिद में पहुंच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फिक्र न रहती थी। 'किश्त', 'शह' आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुंह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दुकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी खयाल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फौज लखनऊ की तरफ बढ़ी चली आती थी। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहात में भाग रहे थे पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फिक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाए जो बेगार में पकड़े जाएं। हज़ारों रुपया सालाना की जागीर मुफ्त ही में हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खंडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिर्ज़ा की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मीर साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। यह गोरों की फौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीर साहब बोले, "अंग्रेज़ी फौज आ रही है, खुदा खैर करे।"

मिर्ज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइए। लो यह किश्त!

मीर—ज़रा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जाएं।

मिर्ज़ा—देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त!

मीर—तोपखाना भी है। कोई पांच हज़ार आदमी होंगे। कैसे

जवान हैं ! लाल बन्दरों के-से मुंह हैं । सूरत देखकर खौफ मालूम होता है ।

मिर्ज़ा—जनाब, हीले न कीजिए । चकमे किसी और को दीजिएगा—यह किश्त !

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं । यहां तो शहर पर आफत आई हुई है और आपको किश्त की सूझी है ! कुछ इसकी भी खबर है कि शहर घिर गया तो घर कैसे चलेंगे ?

मिर्ज़ा—जब घर चलने का वक्त आएगा तो देखी जाएगी—यह किश्त ! बस, अब की शह में मात है !

फौज निकल गई । दस बजे का समय था । फिर बाज़ी बिछ गई ।

मिर्ज़ा बोले, "आज खाने की कैसी ठहरेगी ?"

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है । क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है ?

मिर्ज़ा—जी नहीं । शहर में न जाने क्या हो रहा है !

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा । लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे । हुज़ूर, नवाब साहब भरी ऐशगाह में होंगे ।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे तो तीन बज गए । अब की मिर्ज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी । चार का गजर बज ही रहा था कि फौज की वापसी की आहट मिली । नवाब वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को ले जा रही थी । शहर में न कोई हलचल थी न मार-काट । एक बूंद भी खून नहीं गिरा था । आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह खून बहे बिना, न हुई होगी । यह वह अहिंसा न थी जिसपर देवगण प्रसन्न होते हैं । यह वह कायरपन था, जिसपर बड़े-से-बड़े कायर भी आंसू बहाते हैं । अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था । वह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी ।

मिर्ज़ा ने कहा, "हुज़ूर, नवाब साहब को ज़ालिमों ने कैद कर लिया है ।"

मीर—होगा, यह लीजिए शह !

मिर्ज़ा—जनाब, ज़रा ठहरिए । इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती । बेचारे नवाब साहब इस वक्त खून के आंसू रो रहे होंगे ।

मीर—रोया ही चाहें । यह ऐश वहां कहां नसीब होगी—यह किश्त !

मिर्ज़ा—किसीके दिन बराबर नहीं जाते । कितनी दर्दनाक हालत है !

मीर—हां, सो तो है ही—यह लो, फिर किश्त ! बस, अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते ।

मिर्ज़ा—खुदा की कसम, आप बड़े बेदर्द हैं । इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुःख नहीं होता । हाय, गरीब वाजिदअली शाह !

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा । यह किश्त और मात ! लाना हाथ !

बादशाह को लिए हुए सेना सामने से निकल गई । उनके जाते ही मिर्ज़ा ने बाज़ी बिछा दी । हार की चोट बुरी होती है । मीर ने कहा, "आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें !" लेकिन मिर्ज़ाजी की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे ।

(४)

शाम हो गई । खंडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया । अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोंसलों में चिमटीं । पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों । मिर्ज़ाजी तीन बाज़ियां लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग अच्छा न था । वे बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके संभलकर खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी खराब हो जाती थी । हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी । उधर मीर साहब मारे उमंग के गज़लें गाते थे, चुटकियां लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों । मिर्ज़ाजी सुन-सुन झुंझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे । पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था । यहां तक कि वे बात-बात पर झुंझलाने लगे, "जनाब, आप चाल न बदला कीजिए । यह क्या कि

चाल चले और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रखे रहते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आपको चाल न सूझे मुहरा छुइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं, जिसे एक चाल चलने में पांच मिनट से ज़्यादा लगे, उसे मात समझी जाए। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए!

मीर साहब का फरज़ी पिटता था। बोले, "मैंने चाल चली ही कब थी?"

मिर्ज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में!

मीर—उस घर में क्यों रखूं? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था?

मिर्ज़ा—मुहरा आप कयामत तक न छोड़ें तो क्या चाल ही न होगी? फरज़ी पिटते देखा तो धांधली करने लगे।

मीर—धांधली आप करते हैं। हार-जीत तकदीर से होती है। धांधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिर्ज़ा—तो इस बाज़ी में आपकी मात हो गई?

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी।

मिर्ज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहां पहले रखा था।

मीर—वहां क्यों रखूं? नहीं रखता।

मिर्ज़ा—क्यों न रखिएगा? आपको रखना ही होगा।

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था, न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्ज़ा बोले, "किसीने खानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके कायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किए, आप शतरंज क्या खेलिएगा! रियासत और ही चीज है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।"

मीर—क्या! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे! यहां तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं।

मिर्ज़ा—अजी, जाइए भी, गाजीउद्दीन हैदर के यहां बावर्ची का काम

करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं।

मीर—क्यों अपने बुज़ुर्गों के मुंह में कालिख लगाते हो—वे ही बावर्ची का काम करते होंगे। यहां तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आए हैं।

मिर्ज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर!

मीर—जबान संभालिए, वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूं। यहां तो किसीने आंखें दिखाई कि उसकी आंखें निकालीं। है हौसला!

मिर्ज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए, आज दो-दो हाथ हो जाएं—इधर या उधर।

मीर—तो यहां तुमसे दबनेवाला कौन है?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था, सभी तलवार, पेशकब्ज, कटारा वगैरा बांधते थे। दोनों विलासी थे, पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं, दोनों ज़ख्म खाकर गिरे और दोनों ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आंखों से एक बूंद आंसू न निकला, उन्होंने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए।

अंधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानो इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। खंडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर धुनती थीं।

कहानी और कहानीकार

आचार्य चतुरसेन



आचार्य चतुरसेन का जन्म २६ अगस्त, १८९१ ई० को हुआ। इन्होंने आयुर्वेद की ऊंची परीक्षाएं पास कीं और वैद्यकी में सफल भी रहे, परन्तु साहित्य की ओर इनकी रुचि शुरू से ही थी और धीरे-धीरे इनका साहित्यकार आगे बढ़ता गया। ये चालीस वर्षों तक निरन्तर साहित्य-साधना करते रहे। गुण और मात्रा दोनों दृष्टियों से हिन्दी साहित्य की समृद्धि में इनकी देन महत्त्वपूर्ण है।

आपकी साहित्य-धारा में अद्भुत प्रवाह, वर्णन में सजीवता और भाषा में लालित्य है। राजपूत और मुगल कालीन इतिहास का अध्ययन उन्होंने विशेष रूप से किया था। संस्कृत साहित्य से उनका अच्छा परिचय था। साहित्य की सभी विधाओं पर उन्होंने पर्याप्त रूप से लिखा। ४५० कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने ३२ उपन्यास तथा अनेक नाटक भी लिखे। साथ ही गद्य-काव्य, इतिहास, धर्म, राजनीति, समाज, स्वास्थ्य-चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों पर भी उन्होंने लेखनी चलाई। उनकी प्रकाशित रचनाओं की संख्या १८६ है। इसके अतिरिक्त वे ५२ रचनाएं अप्रकाशित छोड़ गए हैं। उनका कथा-साहित्य हिन्दी के लिए गौरव है।

'वयं रक्षामः', 'वैशाली की नगरवधू', 'सोना और खून' (४ भाग) आदि आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'दुखवा मैं कासे कहूं', 'धरती और आसमान', 'सोया हुआ शहर', 'बाहर-भीतर' और 'कहानी खत्म हो गई' आदि आपकी कहानियों के पांच विशाल संग्रह हैं।

आचार्य चतुरसेन की गणना आधुनिक युग के श्रेष्ठ लेखकों में होती है। २ फ़रवरी १९६० को सत्तर वर्ष की अवस्था में आपका देहान्त हो गया। हिन्दी साहित्य आपका चिर-ऋणी रहेगा।

प्रस्तुत कहानी

प्रस्तुत कहानी 'वीर बादल' आचार्य चतुरसेन की एक प्रतिनिधि कहानी है। राजपूती शौर्य का चित्रण जैसा इस कहानी में हुआ है, आज बहुत कम देखने को मिलता है। इस कहानी की घटनाएं आदर्श और प्रतिष्ठा के लिए लड़े गए युद्धों का एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

कैसा दुर्भाग्य ! हजारों वर्षों पूर्व लिखे गये हस्तलिखित ग्रन्थ आज भी सुरक्षित, पर दस/बीस पाठकों के हाथों निकलते २ ही मूल्यवान पुस्तकें नष्ट ! हमारी घोर लापरवाही का यह कितना दुःखद एवं दयनीय रूप !!

वीर बादल

(आचार्य चतुरसेन)

तेरहवीं शताब्दी बीत रही थी। निर्दय और इन्द्रियलोलुप पठान अलाउद्दीन खिलजी भारत का सम्राट् था। उसने अपनी दुर्धर्ष सेना के बल पर राजपुताना को कुचल डाला था, और वह राजपुताने की बची-खुची आबरू को लूटने के लिए दलबल सहित चित्तौड़ पर चढ़ आया था। चित्तौड़ पर दुर्भाग्य उदय हुआ था। इस बार उसका इरादा चित्तौड़-विजय का न था, प्रत्युत चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी को हरण करने का था। चित्तौड़ की आन्तरिक अवस्था अच्छी न थी, राणा लक्ष्मणसिंह नाबालिग थे और उनके चाचा भीमसिंह चित्तौड़ के कर्ता-धर्ता थे। पद्मिनी भीमसिंह की पत्नी थी। वह पद्मराग मणि के समान सुन्दर और कान्तिवाली थी। उसके सौन्दर्य की तारीफ राजपुताने-भर में फैली हुई थी और सौन्दर्यलोलुप अलाउद्दीन खिलजी पूरी शक्ति से उस सौन्दर्य-कुसुम को लूटने चित्तौड़ पर चढ़ आया था।

किला चारों ओर से घिरा हुआ था और किसी भी आदमी का किले से बाहर जाना या बाहर से भीतर आना सम्भव न था। किले में खाद्य सामग्री अभी इतनी थी कि वर्षों घेरा पड़ा रहने पर भी उसकी कमी न होती। परन्तु पानी का अभाव था। लोगों ने प्रथम स्नान आदि बन्द किए। अब पीने में भी किफायत पर नौबत आ पहुंची। अलाउद्दीन को चित्तौड़ को घेरे नौ मास हो चुके थे। किला फतह होने की कोई युक्ति सूझ न पड़ती थी। भारतीय राजनीति का वातावरण उस समय अत्यन्त क्षुब्ध था।

मालवा, गुजरात, बंगाल और दिल्ली से अशान्तिपूर्ण खबरें आ रही थीं। अलाउद्दीन ने समझा कि सौन्दर्य की देवी के पीछे कहीं हिन्द का तख्त ही न खोना पड़े। वह जल्द से जल्द चित्तौड़ के मामले को खतम करने का मन्सूबा बांधने लगा। मन ही मन उसने कपट का जाल बिछाया और फिर सुलह का झंडा लेकर किले में संवाद भेज दिया।

सुलह का झण्डा देखकर किले का फाटक खुल गया। दूत भीत मुद्रा से किले में गया। विकट आकृति राजपूत उसे सन्देह और क्रोध से देख रहे थे। उसने राणा भीमसिंह की राजसभा में जाकर विनयपूर्वक यह निवेदन किया कि सुलतान चित्तौड़ के राणा से बराबर की दोस्ती करना चाहते हैं। उनकी मन्शा न चित्तौड़ छीनने की है, न महारानी को हरण करने की। अगर महाराणा अपनी दोस्ती का सबूत दें तो सुलतान अभी दिल्ली को लौट जाएं। दोस्ती के सबूत में सुलतान केवल यह चाहते हैं कि उन्हें केवल एक बार महारानी की झलक दिखा दी जाए। और कुछ नहीं।

गर्वीले राजपूतों को दूत का यह प्रस्ताव अत्यन्त अपमानजनक प्रतीत हुआ। उन्होंने तलवारें खींच लीं और भांति-भांति के कुवाक्य दूत और सुलतान को कहे। प्रत्येक राजपूत इस अपमान के बदले अपने प्राण देने के लिए तैयार था, पर राणा भीमसिंह गम्भीर चिन्ता में निमग्न थे। उनके ऊपर चित्तौड़ की रक्षा एवं हज़ारों राजपूतों की जीवन-रक्षा का दायित्व था। उन्होंने सोचा, क्या सर्वनाश से बचने के लिए यह अपमान सह लिया जाए? उन्होंने अपने मन्त्रियों,, सरदारों, भाई-बंदों और दरबारियों से परामर्श किया और रानी पद्मिनी से भी सब हकीकत कह दी। रानी ने साहसपूर्वक कह दिया कि यदि मेरा यह अपमान करके वह दैत्य टल जाए तो मैं अपनी आबरू का बलिदान करने को तैयार हूं, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं, दर्पण में ही वह पशु मेरी छवि की एक झलक देख सकता है।

राणा भीमसिंह ने सभासदों को सब ऊंच-नीच समझाकर अन्त में प्रस्ताव की स्वीकृति दे दी। उन्होंने यह शर्त की कि सुलतान अकेले निःशस्त्र किले में आएंगे और दर्पण में महारानी की एक झलक देखकर तुरन्त लौट जाएंगे तथा तुरन्त ही चित्तौड़ का घेरा उठा लेंगे।

अलाउद्दीन ने राणा की इस उदारता की बड़ी तारीफ की और

मित्रता की बहुत लम्बी-चौड़ी बातें राणा के पास भेजीं। ठीक समय पर निःशस्त्र अकेले किले में आ पहुंचा।

सुलतान का प्रस्ताव अभूतपूर्व था और वह विश्वासी व्यक्ति न था। किले का प्रत्येक राजपूत इसे अपना जातीय अपमान समझे हुए था। परंतु राणा अपने विचार का दृढ़ था। वह गम्भीर और मौन था। आज महलों में अद्‌भुत गम्भीरता छाई हुई थी। राजपूत बड़ी-बड़ी काली दाढ़ियों के बीच दांतों की बत्तीसी भींचे सम्पुटित होंठ किए, बिना बड़ी-बड़ी ढाल कन्धे पर लिए, तलवारें म्यान में किए, लाज और अपमान से नीचे आंखें किए खड़े थे। सुलतान सबके बीच साहस और उत्साह की मूर्ति बना धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। राणा ने किले के फाटक पर उसका स्वागत किया था। राजपूतों के वचन पर उसे भरोसा था। वह निःशस्त्र तथा एकाकी था। वह चपल घोड़े पर सवार था और आगे बढ़ रहा था। उसके बाईं ओर राणा चुपचाप एक घोड़े पर सवार आगे बढ़ रहा था और पीछे चुने हुए सवार थे। सुलतान अपनी मित्रता और प्रसन्नता प्रकट करने के लिए बहुत-सी बातें करता जाता था।

जनाने दरवाज़ों पर सब घोड़ों से उतर पड़े। वे उन सीढ़ियों पर चढ़े जहां किसी यवन के पांव नहीं पड़े थे। राजपूत क्रोध से एवं बांदियां भय से थर-थर कांपती जा रही थीं। सन्नाटा था, विरद गानेवाले चुप बैठे थे, डाढ़िनें अपने मुंह पर घूंघट डाले सिमटी खड़ी थीं। नौबतखाने के नक्कारे औंधे पड़े थे।

सुलतान ने कहा—महाराणा, आज से हम दोनों दोस्त हुए न, कहिए।

महाराणा ने खिन्नमन होकर धीरे से कहा—सुलतान की यदि यही इच्छा है तो मैं वचन देता हूं कि राजपूत हमेशा सच्ची दोस्ती निभाएंगे।

"इसका मुझे पूरा भरोसा है, आप देखते हैं कि आपपर मैं यकीन करके खाली हाथ किले में आ गया हूं। उम्मीद है, आप भी मुझे भरोसा देंगे।"

राणा ने गम्भीर स्वर में कहा—तो क्या सुलतान मित्रता की ओर इतना कदम उठाकर भी वह अपमानजनक काम करने का इरादा रखते हैं जो राजपूतों के लिए बिलकुल नया है?

"यकीन रखिए, राणा साहब, मेरी नीयत कुछ बुरी नहीं। जैसा हम

लोगों में कौल-करार हुआ है, उसके होते ही मैं तुरन्त दिल्ली लौट जाऊंगा।"

राणा ने ठण्डी सांस लेकर एक बार सरदार की ओर देखा—वे नीची आंखें किए खड़े थे। फिर उसने चांदी की भांति सफेद महलों के आकाश को छूनेवाले सुनहरी कंगूरों को देखा जो सूर्य की धूप में चमक रहे थे। तब सूर्यवंश के उस अधिकारी ने एक ठण्डी सांस ली और कहा—तब आइए, राजपूत अपनी बात पूरी करेंगे। दोनों आगे बढ़े। दो कदम बाद सुलतान झिझककर खड़ा हो गया, उसने देखा—सामने पूरे कद के आईने में वह अलौकिक सुन्दरी—जैसे रत्नों से जड़ी तस्वीर हो—लाज से सिर नवाए खड़ी है। एक झलक सुलतान ने देखा, और वह झलक दर्पण से गायब हो गई। सुलतान निश्चल हो गया, इस सौंदर्य की उसने कभी कल्पना भी न की थी। महाराणा ने कंपित कंठ से कहा—राजपूतों का वचन पूरा हुआ, अब सुलतान को अपना वचन निभाना चाहिए।

सुलतान चौंका और सोते हुए मनुष्य की भांति उसने कहा—हां हां, ज़रूर, अब मुझे आपकी दोस्ती पर यकीन हो गया है। महाराणा, दर-हकीकत मैं आपको मुबारकबाद देता हूं। आपकी महारानी इन्सान नहीं हैं, इन्सान में इतनी खूबसूरती नहीं हो सकती।

राजपूत धीरज खो रहे थे। राणा ने अधीर होकर कहा—राजपूती मर्यादा को निभाने के लिए, सुलतान जैसे प्रतिष्ठित मेहमान को विदा करने हम बाहर की ड्योढ़ी तक चलेंगे, परन्तु सुलतान अपना वचन कब पूरा करेंगे?

"मैं अभी अपनी छावनी उठाता हूं," सुलतान ने वापस लौटती बार कहा था।

वे चुपचाप धीरे-धीरे लौट रहे थे, दोनों चुप थे। राणा अपने उस अपमान की बात सोच रहे थे, जो अभी हो चुका था और सुलतान उस घात की, जो वह अभी करनेवाला था।

फाटक आ पहुंचा। राणा ने कहा—मैं सुलतान के कष्ट करने के लिए क्षमा चाहता हूं।

"नहीं, नहीं, माफी मुझे मांगनी चाहिए, क्योंकि मैंने आपको बड़े भारी तरद्दुद में डाल दिया है; मगर खैर, इससे हमारी और आपकी

दोस्ती पक्की हो गई। अरे, आप रुक क्यों गए? जरा और आगे चलिए। वहां मेरे आदमी हैं, मैं आपके लिए कुछ सौगात लाया हूं, जो आपको बाइज़्ज़ त कबूल करनी होगी। आशा है आप इन्कार नहीं करेंगे।"

राणा झिझका पर आगे बढ़ा। उसने कहा—आपकी दोस्ती ही मेरे लिए सबसे बडी सौगात है।

सुलतान ने अत्यन्त आग्रह से कहा—नहीं, नहीं, अगर आप इन्कार करेंगे तो मैं समझूंगा कि आपका दिल मेरी तरफ से साफ नहीं है।

फाटक कदम-कदम पर दूर हो रहा था, राणा कुछ कह न सके। एका-एक पठानों का एक बड़ा दल जंगल से निकल आया और बात की बात में राणा को घेर लिया। राणा तलवार भी न निकाल पाया, उसकी मुश्कें कस ली गईं। राणा ने लाल-लाल आंखें करके कहा—यही सुलतान की दोस्ती है?

"दोस्ती? काफिर और दीनदार की कैसी दोस्ती? या तो वह परी पैकर मेरे हवाले कर, वरना चित्तौड़ की ईंट से ईंट बजा दूंगा, और तेरी बोटियां चील और कौए खाएंगे।"

राणा ने घृणापूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—धिक्कार है तुझ विश्वास-घाती पर।

सुलतान ने कहा—ले जाकर बन्द कर दो बदबख्त को।—और वे तेज़ी से चल दिए।

किले में हाहाकार मच गया। राजपूतों ने तलवारें सूत लीं। सबने इरादा किया, किले का फाटक खोल दो और जूझ मरो। पद्मिनी ने सुना तो कहलाया—सब कोई शान्त रहें, मैं महाराणा की मुक्ति का उपाय करूंगी। लोग आश्चर्यचकित हो महाराणा की मुक्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

"बादल, क्या तुम अपने काका जी को छुड़ाने का साहस कर सकते हो?"

"हां, काकी जी, मैं अभी अपने प्राण दे सकता हूं।"

"परन्तु बेटे, शत्रु छली और बली है, हमें भी छल और बल से काम

लेना होगा।"

"छल-बल से कैसे काकी जी?"

"मैं सुलतान से कहलाए देती हूं, मैं स्वयं उनके पास आने को राज़ी हूं। आप राणा को छोड़ दें।"

"छी, छी, काकी! क्या आप उस म्लेच्छ सुलतान के पास जाएंगी?"

"नहीं बेटे, मेरी जगह मेरी डोली में तुम जाओगे।"

"क्या, मैं?"

"हां, तुम मेरी जगह, यद्यपि तुम अभी बारह साल के बालक हो, पर क्षत्रिय-पुत्र को जूझ मरने के लिए यह आयु काफी है। तुम यह काम कर सकोगे?"

"मुझे क्या करना होगा?"

"तुम सब हथियार बांधकर मेरी पालकी में बैठोगे। पालकी के साथ सात सौ डोलियों में मेरी सहेलियां होंगी। प्रत्येक डोली में बांदी की जगह दो-दो शूरवीर हथियार बांधकर बैठेंगे। और चार-चार शूरमा कहार का भेस धरे डोली उठाएंगे, जिनके हथियार कपड़ों में छिपे होंगे।"

"इसके बाद काकी जी?"

"इसके बाद रानी-राणा में अकेले में भेंट होगी। पास में तुम्हारे काका गोरा घोड़े पर सवार होंगे। वे तुरन्त ही राणा जी को घोड़ा और हथियार दे देंगे और किले की ओर चलता कर देंगे। फिर तुम डोली से निकल अपने राजपूती जौहर के हाथ दिखलाना।"

"ऐसा ही होगा काकी जी, हम सुलतान को दगाबाज़ी का वह पाठ पढ़ाएंगे, जिसका नाम है।"

"तब जाओ बेटे, अपने गोरा काका से कहो। वे सुलतान से कहला भेजें कि रानी आपके पास आने को राज़ी है। मगर वे अपनी बांदियों और सहेलियों के साथ आएंगी। उन्हें परदे में उतारने का बन्दोबस्त कीजिए और राणा को छोड़ दीजिए तथा रानी को एक घण्टे राणा से एकान्त में मिलने की आज्ञा मिलनी चाहिए, बस।"

"समझ गया। अभी जाकर चाचा से सब हकीकत बयान करता हूं।"

"जाओ पुत्र, ईश्वर तुम्हें सफलता दें।"

सुलतान की छावनी में जश्न मनाया जा रहा था। उसे खबर लग चुकी थी कि पद्मिनी अपने महल से चल चुकी है। वह पहाड़ से उतरती हुई डोलियों को देख-देखकर प्रसन्न हो रहा था। वह अपनी चालाकी पर खुश हो रहा था। सिपाही शराब ढाल रहे थे और नाच-गान में मस्त थे। किसीको किसीकी सुध न थी।

धीरे-धीरे डोलियां पठानों के शिविर में आ गईं और वे सब एक बड़े तम्बू में उतार दी गईं। रानी ने कहला भेजा—अब आप एक घण्टे के लिए मुझे राणा से मिलने की इजाज़त दें। इसके बाद तो मैं आपकी हूं ही।

बादशाह ने हंसकर कहा—अच्छा, अच्छा, इसमें कोई हर्ज नहीं है। राणा अच्छा आदमी है। मगर एक घण्टे बाद मैं कुछ नहीं सुनूंगा।

"यह मैं क्या देख-सुन रहा हूं, अच्छा होता कि इससे पहले ही मैं मर गया होता। पद्मिनी, तुमसे ऐसी आशा न थी। अब तुम मुझे अपना मुंह दिखाने का साहस करती हो?" राणा भीमसिंह ने क्रोध से थर-थर कांपते हुए पालकी के सुनहरी काम की ओर अग्निमय नेत्रों से देखते हुए कहा।

पर्दा हिला। बादल ने घूंघट से मुंह निकालकर कहा—काकाजी, सावधान!

"कौन, तुम हो बादल!"

"जी हां, और सात सौ डोलियों में जुझाऊ वीर भरे हैं। हम, हम सुलतान से निबट लेंगे। बाहर गोरा काका घोड़ा लिए खड़े हैं। आप घोड़े पर चढ़कर किले में जा पहुंचें और फिर सेना लेकर सुलतान की सेना पर टूट पड़ें, तब तक हम निबट लेंगे।"

"शाबाश बेटे, हम आज दगाबाज़ी का···"

"चुप, ज़्यादा बातें न कीजिए। खेमे के पीछे घोड़ा खड़ा है, आप जाइए, हम शत्रुओं को रोकते हैं।" बादल पालकी से निकल खड़ा हुआ। संकेत होते ही हज़ारों राजपूत हर-हर करके तलवार सूंतकर निकल पड़े। रंग में भंग पड़ गया। छावनी में उथल-पुथल मच गई। जो जहां था, वहीं काट डाला गया। तैयारी का अवसर ही न था। 'मारो, मारो' की आवाज सुनाई पड़ती थी। घायलों के चीत्कार मारते हुए कराहने की आवाज़ और

राजपूतों की 'हर-हर महादेव' तथा पठानों की 'अल्लाहो-अकबर' की तुमुल ध्वनि हो रही थी। रुण्ड-मुण्ड कट-कटकर गिर रहे थे। राणा भीमसिंह तीर की भांति किले की ओर जा रहे थे। किले पर राजपूत तलवारें झन-झना रही थीं।

बादल को पठानों ने घेर लिया था। पर वह बालक किले के नीचे पथ पर खड़ा दोनों हाथों से तलवार चला रहा था। गोरा ने तलवार चलाते-चलाते कहा—वाह बेटे, खूब खेत काट रहे हो!

"सावधान काका जी, वह पीछे से वार होता है!"

तलवार चलाते-चलाते गोरा ने कहा—हर्ज नहीं, राणा जी महल में पहुंच गए हैं, वह तोप छूटी।

तलवारें और तीर बरस रहे थे। गोरा ने कहा—बादल, अब मेरे हाथ नहीं चलते।

बादल ने कहा—काका जी, हम उस लोक में मिलेंगे।—गोरा घाव खाकर गिर पड़ा। बादल ने देखा और शत्रुओं को चीरते हुए ज़ोर से उसके कान के पास पुकारा—मैं, काका जी, आपकी वीरता का बखान करूंगा! महाराणा सेना लेकर आ रहे हैं!

राणा ने आते ही शत्रुओं को गाजर-मूली की तरह काटना आरम्भ कर दिया। शत्रु के पैर उखड़ गए। सुलतान पिटे कुत्ते की तरह सब सामान छोड़कर भागा। उसकी छावनी जला दी गई। बादल के शरीर पर अन-गिनत घाव थे। उसके मुमूर्षु शरीर को महलों में लाया गया। शरीर से एक-एक बूंद रक्त निकल गया था और उसके होंठों पर हंसी की रेखा थी।

कहानी और कहानीकार

सुदर्शन



सुदर्शन जी का जन्म सियालकोट, पंजाब में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में १८९६ ई० में हुआ। प्रारम्भ में उर्दू में लिखकर आपने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। तत्पश्चात् आप हिन्दी में आए और यहां भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया। हिन्दी में आपकी सबसे पहली कहानी १९२० में 'सरस्वती' में छपी। लोकप्रियता की दृष्टि से कहानी-लेखकों में प्रेमचन्द के बाद आपका ही नाम आता है। 'सुदर्शन सुमन', 'पारस' आदि आपके कई कहानी संग्रह हैं।

आप बम्बई में रहकर फिल्मों के लिए कहानियां लिखते थे। आपकी कहानियों पर बनी फिल्में सफल हुई हैं। मानव-विकारों को समझकर उनको प्रकट करने में आपको दक्षता प्राप्त है। आपकी सभी कहानियां लोकप्रिय हुई हैं।

प्रस्तुत कहानी

प्रस्तुत कहानी में श्री सुदर्शन ने माता के वात्सल्य को साकार कर दिया है। मनुष्य को प्यार और स्नेह देने के लिए मनुष्य न मिले तो वह अपना यह अमूल्य धन जड़-मूक पेड़-पौधों तक को भी प्रदान कर देता है। इस कहानी की मार्मिकता और कोमलता कभी न भुलानेवाली वस्तु है।

प्रेम-तरु

(सुदर्शन)

डेढ़ सौ साल बीत चुके हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का नाम आज भी उसी तरह जिन्दा है। गुरदासपुर के ज़िले में कड़याला नाम का एक छोटा-सा गांव है, जहां ज़्यादा आबादी हिन्दू जाटों की है। वहां आप किसीसे पूछिए, वह आपको देवी सुलक्खी की समाधि का पता बता देगा। वहां प्रतिवर्ष मेला लगता है, स्त्रियां रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आती हैं, और इसपर घी के दीये जलाती हैं। जब बेर पकते हैं तो सबसे पहले बेर देवी सुलक्खी की समाधि पर चढ़ाए जाते हैं, इसके बाद लोग खाते हैं। क्या मजाल कि इस समाधि पर बेर चढ़ाए बिना कोई बेर को मुंह भी लगा जाए! दीवाली की रात लोग पहले वहां दीये जलाते हैं, इसके बाद अपने घर में जलाते हैं। किसीमें इतना साहस नहीं कि देवी सुलक्खी की समाधि पर रोशनी किए बिना अपने घर में रोशनी कर ले। ब्याह के समय दुलहिनें पहले यहां आकर नमस्कार करती हैं, इसके बाद अपने ससुराल में पांव धरती हैं। किसीमें हिम्मत नहीं कि गांव की इस रीति को तोड़ सके। देवी की समाधि गांव के मध्य में है। उसके ऊपर श्रद्धालुओं ने संगमरमर की एक सुदृढ़ और सुन्दर छत खड़ी कर दी है। इस छत के ऊपर एक झण्डा लहराता है, जो आसपास के गांवों से भी नज़र आता है। देवी सुलक्खी ने संग्राम नहीं जीता, न कोई राज्य स्थापित किया, न कोई उसमें विशेष आत्मशक्ति थी जो लोगों के दिलों को पकड़ लेती, न उसने लोगों के लिए कोई बलिदान किया। वह एक गरीब, सीधी-सादी, अनपढ़ परन्तु सतवन्ती ब्राह्मण महिला थी। जो एक मूर्ख और हठी

जाट के क्रोध का शिकार हो गई। उसने अपने पति से जो प्रण किया था, उसपर वह ध्रुव के समान अटल रही। इसमें सन्देह नहीं, वह साधारण ब्राह्मणों से भी गरीब थी, परन्तु पतिव्रत धर्म की दौलत से मालामाल थी। वह मर्यादा की पुजारिन थी। उसने जो कहा था वह करके दिखा दिया। उसके पति ने एक वृक्ष को अपनी सन्तान कहा था, सुलक्खी ने मरते दम तक पति के इस वचन को निबाहा। यही बात है जिसने उसे इतने दिनों के बाद आज भी गांव में जीती-जागती शक्ति बना रखा है। हिन्दू देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, मुसलमान पीर-फकीरों को मानते हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का शासन दोनों के हृदयों पर है।

(२)

देवी सुलक्खी इसी गांव के एक निर्धन ब्राह्मण जयचन्द की स्त्री थी। जयचन्द के घर में एक स्त्री के अतिरिक्त कोई भी न था—न मां, न बाप, न बहिनें, न भाई। बस पति-पत्नी थे; कोई बाल-बच्चा भी न था। कुछ दिन इलाज कराते रहे, परन्तु जब सारा परिश्रम निष्फल हुआ, तो भाग्य-विधान पर सन्तुष्ट होकर बैठे रहे। उस युग के ब्राह्मण लोग प्रायः नौकरी इत्यादि न करते थे। न धन-दौलत में उस समय ऐसी मोहिनी थी, न लोग धन को दुर्लभ समझकर उसकी प्राप्ति के लिए अधीर रहते थे। थोड़े में ही गुजारा हो जाता था। एक कमाता था, दस खा लेते थे। आज वह जमाना कहां? दस कमानेवाले हों, एक बेकार को नहीं खिला सकते। उस समय के ब्राह्मण सारा-सारा दिन पूजा-पाठ में लगे रहते थे। खाने-पीने को जाट यजमानों के यहां से आ जाता था। दोनों को किसी प्रकार की चिन्ता न थी। हां, कभी-कभी निःसंतान होने पर कुढ़ा करते थे। यदि एक भी बच्चा हो जाता तो दोनों का मन बहल जाता। उनका जीवन मधुर प्रकाशमय तथा विनोदपूर्ण हो जाता। उनको कोई शुगल मिल जाता। अब ऐसा मालूम होता था, जैसे उनका घर सूना-सूना है, जैसे उनका जीवन लम्बी, अंधेरी, समाप्त न होनेवाली रात है, जिसमें कोई तारा नहीं, चांद नहीं, केवल निराशा के काले बादल घिरे हुए हैं। उन बादलों में कभी-कभी थोड़ी देर के लिए आकाश की बिजली भी चमक जाती है; परन्तु उससे उनके दिलों का अन्धकार बढ़ता था, घटता न था। इसी तरह कई साल गुजर गए।

एक दिन जयचन्द ने अपने आंगन के कोने में नवजात बच्चे के समान बेरी का पौधा देखा, जो स्वयं ही उग आया था। पौधा बहुत छोटा था। और साधारण पौधों से ज़रा भी भिन्न न था; किन्तु जयचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो यह पौधा न था, प्रकृति का अद्भुत चमत्कार था। वे उसके छोटे-छोटे रग-रेशे और चिकनी-चिकनी ज़रा-ज़रा-सी कोंपलें देखकर बेसुध-से हो गए। शान्ति के पुतले पर अशान्ति छा गई। दौड़े सुलक्खी के पास गए और बोले, "आओ, कुछ दिखाऊं। भगवान ने हमारे घर में बूटा लगाया है, बड़ा सुन्दर है।"

सुलक्खी ने जाकर देखा तो एक नन्हा-सा पौधा था। बोली, "क्या है यह? ऐसे प्रसन्न क्यों हो रहे हो?"

जयचन्द—बेरी का पौधा है। अभी छोटा है, थोड़े दिनों में बड़ा हो जाएगा। इसमें हरे-हरे पत्ते आएंगे। मीठे-मीठे फल लगेंगे। लम्बी-लम्बी डालियां फैलाकर खड़ा होगा।

सुलक्खी ने पुलकित होकर कहा, "आंगन में छाया हो जाएगी।"

जयचन्द—हर साल बेर लगेंगे। खूब मीठे होंगे।

सुलक्खी—मैं इसे सदा जल से सींचा करूंगी। थोड़े ही दिनों में बड़ा हो जाएगा। कब तक फलेगा?

जयचन्द—(पौधे को प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर) चार वर्ष बाद; तुमने देखा, कैसा प्यारा लगता है! बड़ा होकर और भी प्यारा लगेगा! कैसा चिकना और सुन्दर है! देखकर मन खिल उठता है!

सुलक्खी—(सरलता से) गरमी के दिन हैं, कुम्हला जाएगा। मुझे तो अब भी घबराया हुआ मालूम होता है। ज़रा कोंपलें तो देखो, जैसे प्यास के मारे व्याकुल हो रही हों। कहिए, ताज़ा जल भर लाऊं? गरमी से बड़ों-बड़ों का बुरा हाल है। यह तो बिलकुल नन्ही-सी जान है! (चुटकी बजाकर) अभी लाऊंगी, दो मिनट में।

जयचन्द—इस समय तुम कहां जाओगी, मैं जाता हूं।

मगर सुलक्खी ने कलसा उठा लिया और चली गई। थोड़ी देर बाद दोनों पति-पत्नी उस छोटे-से पौधे को पानी से सींच रहे थे। ऐसे प्यार से, जैसे उनका जीता-जागता बच्चा हो; ऐसी भक्ति से जैसे उनका देवता हो;

ऐसी श्रद्धा से जैसे कोई अमोल वस्तु हो। पौधा सचमुच धूप से कुम्हलाया हुआ था। ठण्डा पानी पीकर उसने आंखें खोल दीं। सुलक्खी बोली, "देख लो अब इसमें ताज़गी आ गई है या नहीं, क्यों?"

जयचन्द—मुझे तो ऐसा मालूम होता है, जैसे यह मुस्करा रहा है।

सुलक्खी—और मुझे ऐसा मालूम होता है, जैसे हमसे बातें कर रहा है। कहता है, मैं तुम्हारा बेटा हूं।

जयचन्द—भाई! यह बात तो तुमने मेरे मुंह से छीन ली। मैं भी यही कहने जा रहा था। हां, बेटा तो है ही। इसे खूब प्यार करोगी न?

सुलक्खी—तुम्हारे कहने की क्या आवश्यकता है? अपने बेटे को कौन प्यार नहीं करता!

जयचन्द—मैं डरता हूं, कहीं मुझे न भूल जाओ। बड़ी उम्र में बालक पाकर स्त्रियां पति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती हैं; मगर मुझसे तुम्हारी लापरवाही सहन न होगी, यह अभी से कहे देता हूं।

सुलक्खी—चलो हटो! तुम्हें तो अभी से डाह होने लगी।

जयचन्द हंसते-हंसते घर के भीतर चले गए, परन्तु सुलक्खी कई घंटे धूप में खड़ी बेरी की ओर देखती रही और खुश होती रही। आज भगवान् ने उसके घर में रौनक भेज दी। आज उसको ऐसा अनुभव हुआ, जैसे वह बांझ नहीं रही—पुत्रवती हो गई है। अबोध बालक छाछ को दूध समझकर खुश हो रहा था।

(३)

अब जयचन्द और सुलक्खी, दोनों को एक काम मिल गया। कभी बेरी को पानी देते कि कुम्हला न जाए; कभी खुरपी लेकर उसके आसपास की ज़मीन खोदते कि उसे अपनी खुराक प्राप्त करने में दिक्कत न हो; कभी उसके इर्द-गिर्द बाड़ लगाते कि कोई जन्तु हानि न पहुंचाए; कभी दो चार-पाइयां खड़ी करके उसपर चादर फैला देते कि गरमी में सूख न जाए। लोग यह देखते थे और उनकी इस मूर्खता पर हंसते थे। कोई-कोई कह भी देता था कि इनकी अक्ल मारी गई है, साधारण पौधे को पुत्र समझ बैठे हैं।

मगर प्रेम के इन सरलहृदय भक्तों को इसकी ज़रा भी परवाह न थी। उन्हें उस बेरी की कोंपलें बढ़ती देखकर वैसी ही प्रसन्नता होती थी जैसी

माता-पिता को बच्चे के हाथ-पांव बढ़ते देखकर होती है। जयचन्द बाहर से आते, तो सबसे पहले बेरी की कुशल-क्षेम पूछते। सुलक्खी रात को कई बार चौंककर उठती और बेरी को देखने जाती। शायद उसे भय था कि कोई ऐसी अनमोल वस्तु को उखाड़कर न ले जाए। ऐसी चाह, ऐसी साव-धानी से किसी गरीब विधवा ने अपने एकमात्र पुत्र का भी लालन-पालन शायद ही किया हो।

धीरे-धीरे यह प्रेम-तरु बढ़ने लगा। अब वह ज़मीन से बहुत ऊपर उठ आया था। जसका तना भी मोटा हो गया था। डालें भी बड़ी-बड़ी हो गई थीं। रात के समय ऐसे सन्देह होता था, जैसे वह बांहें फैलाकर किसीसे गले मिलने को अधीर हो रहा है। सुलक्खी उसे अपनी बेटी और जयचन्द उसे अपना बेटा कहते थे। उसे देखकर उनकी आंखें चमकने लगती थीं। उनका हृदय-कमल खिल उठता था। यह वृक्ष साधारण वृक्ष न था, उनके रात-दिन के परिश्रम का परिणाम था। इसके लिए उन्होंने अपनी रातों की नींद कुर्बान की थी, इसपर उन्होंने अपने शरीर और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियां खर्च कर दी थीं।

इसी तरह प्यार-मुहब्बत और लाड़-चाव के चार वर्ष गुजर गए और बेरी के फलने के दिन निकट आ गए। जयचन्द और सुलक्खी दोनों के मन की दशा अकथनीय थी। जब बौर आया तो दोनों सारा-सारा दिन आंगन में बैठे उसकी रक्षा किया करते थे कि कहीं कोई पास न फटक जाए। जय-चन्द अब पहले की तरह पूजा-पाठ के पाबन्द न रहे थे। सुलक्खी को अब चरखे का खयाल न था। साधारण वृक्ष के प्रेम ने उन्हें इस तरह बांध दिया था कि ज़रा हिलते भी न थे। हर समय इसीकी बात करते थे। उस समय वे इस संसार से बाहर चले जाते थे। सुलक्खी कहती, "तुम्हारे खयाल में वह पीले रंग का बौर होगा, मगर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरी बेटी ने सोने के गहने पहने हैं। किस शान से खड़ी है?"

जयचन्द कहते, "यह मेरे बेटे की पहली कमाई है। इसे बौर कौन कहता है? ये मोहरें हैं, बल्कि मुझे तो इसके सामने मोहरें भी तुच्छ मालूम होती हैं। उन्हें मनुष्य बनाता है, इसे स्वयं भगवान ने अपने हाथों से संवारा है। इसके सामने मोहरें और अशरफियां किस गिनती में हैं? थोड़े दिनों

में ये बेर बन जाएंगे। उनमें जो सुन्दरता, जो यौवन, जो मिठास होगी, वह सोने के उन सिक्कों में कहां ?"

सुलक्खी कहती, "जिस दिन पहले बेर उतरेंगे उस दिन मिठाई बांटूंगी।"

जयचन्द कहते, "मैं रतजगा करूंगा। गांव के सारे लोगों को बुलाऊंगा। सारी रात रौनक रहेगी।"

सुलक्खी कहती, "खूब खर्च करना पड़ेगा।"

जयचन्द कहते, "लोग बेटों के ब्याहों में अपना धन लुटाते हैं। मेरे लिए यही बेटे का ब्याह है। सब कुछ खर्च हो जाए, तब भी परवाह नहीं, परन्तु एक बार दिल के अरमान निकल जाएं, कोई अभिलाषा शेष न रह जाए।"

यह सुनकर सुलक्खी किसी दूसरी दुनियां में पहुंच जाती थी। उसके हृदयरूपी समुद्र में खुशी की तरंगें उठने लगती थीं, जैसे चांदनी रात में समुद्र में ज्वार-भाटा आए।

(४)

आखिर वह दिन भी आ गया, जिसकी पति-पत्नी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे। पहले दिन बेरी के दो सौ बेर उतरे। ये बेर इतने मीठे, ऐसे गोल-मोल, ऐसे लाल, इतने सुन्दर और चिकने थे कि देखकर जी खुश हो जाता था। दोपहर का समय था। सुलक्खी ने पुराने ज़माने की हिन्दू स्त्रियों की तरह नये कपड़े पहने, लाल रंग की फुलकारी ओढ़ी। नाक में नथ पहनी और जाकर जयचन्द के सामने खड़ी हो गई, जैसे उस दिन उसके यहां कोई ब्याह-शादी थी। उसको इन वस्त्रों में देखकर जयचन्द मुग्ध-से हो गए। थोड़ी देर तक दोनों के मुंह से कोई बात न निकली। आंखें मूंदकर चुपचाप इस अलौकिक आनन्द से आनन्दित होते रहे। तब जयचन्द ने बेर टोकरी में रखे और सुलक्खी से कहा, "जा, जाकर यजमानों के यहां गिनकर बीस-बीस दे आ।"

सुलक्खी ने साहसपूर्ण नेत्रों से पति को देखा और प्यार-भरी आवाज़ में कहा, "ईश्वर करे, खूब मीठे हों। लोग बेअख्तियार वाह-वाह कहें। आकर बधाइयां दें। कहें, ऐसे बेर सारे गांव में नहीं हैं।"

जयचन्द ने दस बेर अपने लिए रख लिए थे। उनकी ओर ताकते हुए बोले, "तू ख्वाहमख्वाह मरी जाती है। दूसरों के लिए मीठे न होंगे न सही

पर हमारे लिए इनसे मीठी वस्तु संसार में और कोई नहीं है। यह मैं चखे बिना कह सकता हूं। जा, देर हुई जाती है। तू बांटकर आ जाए तो एकसाथ खाएं।"

सुलक्खी ने पति की ओर श्रद्धा से देखकर उत्तर दिया, "मैं एकआध घर में दे लूं, तो तुम खा लेना। मेरी राह देखने की क्या आवश्यकता है ?"

जयचन्द—वाह ! आवश्यकता क्यों नहीं ? एकसाथ खाएंगे। अकेले में क्या मज़ा आएगा ? ज़रा जल्दी लौट आना, नहीं लड़ाई होगी।

सुलक्खी ने छोटा-सा घूंघट निकाला और बेरों की टोकरी उठाकर बांटने चली, जैसे कोई ब्याह-शादी की मिठाई बांटने जा रही हो। थोड़ी देर में एक यजमान दौड़ा हुआ आया और बोला, "पण्डितजी ! वधाई है। बेर खूब मीठे हैं।"

जयचन्द का दिल धड़कने लगा। मुंह गुलाब हो गया। बोले, "अच्छा, आपने खाए हैं ?"

यजमान—खाए क्या हैं ! एक बेर चखा है। मगर वाह भाई, वाह ! गुड़ से भी मीठा है। आम से भी मीठा है। कोई और बेर है या नहीं ?

जयचन्द की बाछें खिली जाती थीं। उन्होंने बेर उठाकर यजमान के हाथ में रख दिए। यजमान खाता जाता था और तारीफ करता जाता था। कहता था, "पण्डितजी ! ये बेर क्या हैं, चीनी के खिलौने हैं। मेरी इतनी आयु हो गई, मगर ऐसे बेर मैंने आज तक नहीं खाए। परमात्मा जाने, इनमें कैसा स्वाद है, मालूम होता है जैसे सुगन्ध भरी है।"

जयचन्द—परमात्मा ने हमारी मेहनत सफल कर दी।

यजमान—सारे इलाके में ऐसे बेर मिल जाएं तो मूंछें मुंडवा दूं। दूर-नज़दीक से लोग आया करेंगे। मालूम होता है, आपने अभी तक नहीं चखे।

जयचन्द—यजमानों को भेंट कर लूं, फिर खाऊंगा।

यजमान—हैरान रह जाओगे। ऐसे बेर काबुल-कन्धार में भी न होंगे। हमारे घर में दस-बीस बेरों से क्या बनता है ? देखते-देखते खतम हो गए। और बेर कब तक उतरेंगे ? हम बीस और लेंगे !

जयचन्द—आपका अपना वृक्ष है। दो-चार दिन तक और उतरेंगे तो भिजवा दूंगा। मुझे दूसरों को खिलाकर जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह

स्वयं खाकर नहीं होती। लीजिए, दो और ले जाइए। छः बाकी हैं। दोनों तीन-तीन खा लेंगे। हमें यही बहुत हैं।

थोड़ी देर बाद एक और यजमान आया। उसने भी इतनी तारीफ की कि जयचन्द की आंखें चमकने लगीं। बोला, "यह प्रेम का वृक्ष है, इसमें प्रेम के बेर लगे हैं। इससे मीठे संसार-भर में न होंगे। भई! इतनी मेहनत कौन करता है? आप दोनों ने एक मिसाल कायम कर दी है। दो बेर खाए हैं, दो और मिल जाएं तो मज़ा आ जाए। फालतू हैं या नहीं?"

जयचन्द ने मुस्कराकर कहा, "छः बचे हैं। दो आप ले जाइए। दो-दो हम खा लेंगे।"

यजमान—यह तो अन्याय होगा। रहने दीजिए। फिर सही। और बेर कब तक उतरेंगे?

जयचन्द—आप ले जाइए। हमें स्वाद देखना है। पेट थोड़ा भरना है। (बेर हाथ पर रखते हुए) रात रतजगा है। आइएगा ना? कोई बेटे का ब्याह करता है, कोई पोती-पोते का मुण्डन करता है। मेरी आयु में यही एक दिन आया है। यही खुशी का पहला दिन है, यही अन्तिम दिन होगा। और क्या?

यजमान—जरूर आऊंगा, पण्डितजी! मगर बेर खूब मीठे हैं, अभी तक मुंह से सुगन्ध आ रही है।

यह कहकर यजमान चला गया। इतने में दो और आ गए। पण्डितजी के पास चार बेर बाकी थे। वह उनकी भेंट हो गए। उनके पास अब एक भी बेर न था। पण्डितजी दिल में डरे कि सुलक्खी से क्या कहूंगा। कहीं खफा न हो जाए, तैश में आ जाए। परन्तु सुलक्खी इस प्रकार की स्त्री न थी। सारा वृत्तान्त सुनकर बोली, "आपने बहुत अच्छा किया। हमारा क्या है? फिर खा लेंगे। अपना वृक्ष है, जब चाहा, दो बेर तोड़ लिए। कहीं मांगने थोड़ा जाना है।"

जयचन्द—गांव में धूम मच गई है। कहते हैं—ऐसे बेर दूर-दूर तक नहीं हैं।

सुलक्खी की आंखों में आंसू आ गए। नथ को संभालते हुए बोली, "सभी कहते हैं—और दो। बेर क्या हैं, खोए के पेड़े हैं।"

जयचन्द—कहते हैं, इसमें सुगन्ध भी है।

सुलक्खी—जो खाता है, चटखारे लेता है। कहते हैं—ऐसा मज़ा न आम में है, न संतरे में।

जयचन्द—यह सब तुम्हारे परिश्रम का फल है, रोज पानी दिया करती थीं। तुम्हारे हाथों का पानी अमृत हो गया।

सुलक्खी—और जो तुम कपड़ों से छाया करते फिरते थे, उसका कोई असर ही नहीं? यह सब उसीका फल है।

जयचन्द—तुम देर में लौटीं। नहीं तो एक-एक खा लेते। अब दो-चार दिन के बाद पकेंगे।

(५)

परन्तु जयचन्द के भाग्य में बेर पकाना लिखा था, बेर खाना न लिखा था। रतजगे के बाद उनको सहसा बुखार हो गया। गांव में जैसा इलाज हो सकता था, हुआ। हकीम ने समझा, थकावट का बुखार है। साधारण औषधियों से उतर जाएगा; परन्तु वह थकावट का बुखार न था, मृत्यु का बुखार था, जिसकी दवा दुनिया के बड़े से बड़े हकीम के पास भी नहीं थी। चौथे दिन प्रातःकाल जयचन्द सुलक्खी से घंटा-भर धीरे-धीरे बातें करते रहे। वे बातें क्या करते रहे, रोते और रुलाते रहे। दुनियादारी की बातें समझाते रहे। ये बातें उनके जीवन का सार थीं। सुलक्खी ये बातें सुनती थी और रोती जाती थी। इस समय उसका दिल बस में न था। वह चाहती थी, जिस तरह भी हो, पति को बचा ले। यदि उसके बस में होता, तो वह अपनी जान देकर भी उन्हें बचा लेती। इसमें उसे ज़रा भी संकोच न था, परन्तु जो भाग्य में बदा हो, उसे कौन रोक सकता है! थोड़ी देर बाद इधर संसार का उदय हो रहा था, उधर जयचन्द के जीवन और सुलक्खी की दुनिया का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया।

अब सुलक्खी संसार में बिलकुल अकेली थी। अब उसका सिवाय एक छोटे भाई के और कोई न था। थोड़े दिन रोती रही, इसके बाद चुप हो गई। इसलिए नहीं कि मृत्यु का शोक भूल गई, बल्कि इसलिए कि उसकी आंखों में आंसू न रहे थे। रो-रोकर आंसू भी समाप्त हो जाते हैं। मगर उसके दिल के घाव हमेशा हरे थे। उसे किसी तरह कल न पड़ती थी। पति

की मृत्यु के बाद किसीने उसे हंसते हुए न देखा। न अच्छा खाती थी, न अच्छा पहनती थी। उसका ज्यादा समय दुःखी लोगों की सेवा में गुज़रता था। गांव में कोई बीमार होता, सुलक्खी पहुंच जाती। फिर उसे सोना हराम था। सिरहाने से न उठती थी। हर समय सेवा में लगी रहती थी, जैसे मां बच्चे की तीमारदारी कर रही हो। जब वह स्वस्थ हो जाता, तब घर लौटती। उसकी इन सेवाओं ने गांववालों के मन मोह लिए। कहते थे—यह स्त्री नहीं, देवी है। अब उन्हें मालूम होता था कि यदि यह न हो, तो गांववालों पर विपत्ति टूट पड़े। उसे दुनिया की किसी वस्तु से प्रेम न था—किसी वस्तु की परवा न थी, जैसे उसने संन्यास ले लिया हो, जैसे उसने दुनिया की हरएक वस्तु का परित्याग कर दिया हो।

परन्तु एक वस्तु से उसे अब भी प्यार था, यह उसकी बेरी थी। वह अब भी उसका उसी तरह खयाल रखती थी। उसको उसी तरह पानी देती थी। उसी तरह देखभाल करती थी। गर्मी में, उसके पत्तों को कुम्हलाया हुआ देखकर अब भी उसी तरह अधीर हो जाती थी। रात को चौंक-चौंककर अब भी उसे देखती थी। बाहर जाती तो भाई लछमन से कह जाती; बेरी का खयाल रखना। जब बेर लगते, तो दो-तीन महीने उसके पास से न उठती; कहीं ऐसा न हो, जानवर आकर कुतर जाएं। जब बेर उतरते तो सारे गांव में बांटती, जिस तरह पहले साल बांटे थे। मगर आप बेर को मुंह न लगाती थी। न पहले साल खाए थे, न अब खाती थी। उसका भाई लछमन खूब पेट भर खाता। वह कहता था, "ये बेर इस दुनिया के नहीं, स्वर्गपुरी के हैं।" कभी कहता, "ऐसे बेर स्वर्ग में भी न होंगे।" बहन से कहता, "तू भी चखकर देख।" वह कहती, "वे खाते तो मैं भी खाती। उन्होंने नहीं खाए, मैं भी नहीं खाऊंगी।"

लछमन कहता, "तू अभागी है।" सुलक्खी उत्तर देती, "अभागी न होती, तो वे क्यों मरते? अब तो सारी आयु इसी प्रकार बीत जाएगी।"

गुरदासपुर के कई दुकानदारों ने बेरी मोल लेनी चाही, पर सुलक्खी ने साफ इन्कार कर दिया। कहा, "मरती मर जाऊंगी, मगर बेरी न दूंगी।"

एक दुकानदार ने कहा, "दो सौ रुपया ले ले, बेरी दे दे।"

सुलक्खी ने उत्तर दिया, "तू दो हज़ार दे, तब भी न बेचूं, दो लाख दे,

तब भी न बेचूं।"

दुकानदार—तू अजब स्त्री है। न खाती है न बेचती है।

सुलक्खी—बांटती तो हूं। मेरे लिए यही खुशी की बात है। मैं नहीं खाती, क्या हुआ; सारा गांव तो खाता है।

दुकानदार—परन्तु इससे तुझे क्या मिल जाता है? जिसको बेर खाने की इच्छा होगी, पैसे देकर खरीद लेगा।

सुलक्खी ने दुकानदार की ओर करुणापूर्ण दृष्टि से देखा, और कहा, "मैं ब्राह्मणी हूं, कुंजड़िन नहीं, जो अपनी बेरी के बेर बेचूं। न भाई! यह न होगा। तू अपने रुपये ले जा, मुझे यह सौदा स्वीकार नहीं।"

एक दूसरे दुकानदार ने कहा, "तू बेरी बेच दे तो मैं पांच सौ रुपये दूं। बोल, है इरादा?"

सुलक्खी—यह बेरी नहीं है, हमारी सन्तान है। अपनी सन्तान कौन बेचता है?

दुकानदार—यह तेरा भ्रम है। आदमी की सन्तान आदमी होता है, वृक्ष नहीं होता।

सुलक्खी—यह अपना-अपना विचार है। कई आदमी ऐसे भी हैं जो ठाकुर को पत्थर कहते हैं।

दुकानदार—मुझे तो वृक्ष ही मालूम होता है।

सुलक्खी—तेरी आंखों में वह जोत कहां, जो इसकी असली सूरत देख सके? वृक्षों के बेर ऐसे मीठे कहां होते हैं?

लछमन अब चुप था, यह सुनकर बोला, "ऐसे मीठे बेर तुमने कहीं और भी देखे हैं? एक-एक बेर एक आने को भी सस्ता है।"

दुकानदार—यह ठीक है। किन्तु आखिर है तो बेरी।

सुलक्खी—नहीं भैया! यह मेरी नहीं है, मेरे स्वामी की यादगार है। जो अपने स्वामी की यादगार को बेच दे, उसे मरकर नरक भी न मिलेगा।

दुकानदार—अब इसका क्या उत्तर दूं? पांच सौ थोड़े नहीं होते। तेरी सारी आयु सुख से कट जाएगी।

सुलक्खी—भैया! जो सुख मुझे इसको पानी देकर होता है, वह सुख रुपये लेकर कभी न होगा।

दुकानदार—तो पानी देने से तुझे कौन रोकता है ? जितना चाहे पानी दे। अगर तेरा हाथ पकड़ जाऊं तो जो चोर की सज़ा, वह मेरी सज़ा।

सुलक्खी—परन्तु जो बात अब है, वह फिर कहां ? अब अपना है, फिर पराया हो जाएगा। अब बेर सारे गांव में बांटती हूं, फिर तू हाथ भी न लगाने देगा ! गांव के जिन लोगों के पास पैसे नहीं, वह क्या करेंगे ? बेरों को देखेंगे और ठंडी सांस भरकर रह जाएंगे। मुझे कोसेंगे, दिल में गालियां देंगे। अब सबको मुफ्त मिलते हैं फिर किसी को भी न मिलेंगे। गांव के छोटे-छोटे बच्चे कहेंगे कैसी लोभिन है, चार पैसों की खातिर बेरी बेच दी ! न भाई ! यह कलंक का टीका न खरीदूंगी। मैं गरीब ही भली।

यह कहकर सुलक्खी बेरी के पास चली गई और उसकी डालियों पर हाथ फेरने लगी।

और यह उस स्त्री का हाल था, जिसने किसी पाठशाला में विद्या नहीं पढ़ी थी, जिसने कर्म-धर्म पर कोई व्याख्यान न सुना था, जिसके पास खाने को कुछ न था, जो अपने यजमानों के दान पर निर्वाह करती थी, परन्तु उसका हृदय कितना विशाल, कितना पवित्र था ! उसने पड़ोसियों के कर्तव्य को कितना ठीक समझा था, ऐसी पवित्रहृदया, सुशीला तथा सभ्या देवियां संसार में कम जन्म लेती हैं।

(६)

कई वर्ष बीत गए।

ज्येष्ठ का महीना था। सुलक्खी बेरी के सारे बेर बांट चुकी थी। अब बेरी पर एक बेर भी बाकी न था। सुलक्खी बेरी के पास खड़ी उसकी खाली डालियों को देखती थी और खुश होती थी कि इस साल का कर्तव्य भी पूरा हो गया। इतने में एक यजमान हाड़ीराम ने आकर सुलक्खी को नमस्कार किया और बोला, "पण्डितानी जी ! हमारे बेर कहां हैं ?"

सुलक्खी का मुंह कुम्हला गया। हैरान थी, क्या कहे क्या न कहे। हाड़ीराम गांव में सबसे उजड्ड जाट था। ज़रा-ज़रा-सी बात पर जोश में आ जाता था और मरने-मारने को तैयार हो जाता था। उसकी लाल आंखें देखकर सारा गांव सहम जाता था। वह अपने परिवार-सहित दो महीने से कहीं बाहर गया हुआ था। सुलक्खी एक-दो बार उसके मकान पर गई और

किवाड़ बन्द पाकर लौट आई। उसके बाद वह भूल-सी गई और बेर समाप्त हो गए। और अब—

हाड़ीराम उसके सामने खड़ा था। सुलक्खी ने उसकी ओर सहमी हुई निगाहों से देखा और कहा, "यजमान, बेर तो खतम हो गए।"

हाड़ीराम ने ज़रा गर्म होकर कहा, "वाह ! खतम कैसे हो गए ? हमें तो मिले ही नहीं !"

सुलक्खी—तुम जाने कहां चले गए थे ? दो बार तुम्हारे मकान पर लेकर गई, दोनों बार दरवाज़ा बन्द था। लौट आई। इसके बाद मुझे खयाल नहीं रहा।

हाड़ीराम—(त्योरियां चढ़ाकर) खयाल क्यों नहीं रहा ? इतनी बच्ची भी तो नहीं हो।

सुलक्खी—(शान्ति से) अब यजमान ! तुमसे बहस कौन करे; भूल हो गई। अगले साल दुगने ले लेना।

हाड़ीराम—खाना तो कभी नहीं भूलती हो; न फसल पर गल्ला मांगना भूलती हो। हमारे बेरों का समय आया तो भूल गई ?

सुलक्खी—तुम बाहर चले गए थे। क्या करती ?

हाड़ीराम—वृक्ष में लगे रहने देती। मैं आता, उतार लेता।

सुलक्खी—और जो एक-एक कर गिर जाते, तो फिर ? अब किसीके मुंह में तो पड़ गए। उस अवस्था में किसीके भी काम न आते।

हाड़ीराम के नेत्रों से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी। गरजकर बोला, "मेरे बेर जब मेरे काम न आएं तो मुझे क्या; चाहे रहें चाहे मिट्टी में मिल जाएं, मेरे लिए एक-सी बात है। तू दूसरों को देने वाली कौन थी ?"

अब सुलक्खी को भी क्रोध आया। ज़रा तेज़ होकर बोली, "बेरी मेरी है, तुम्हारी नहीं। जिसको चाहूं, एक बेर भी न दूं; जिसको चाहूं, सबके सब दे दूं। बेरी तुम्हारे हाथों बिकी हुई नहीं है। तुम बोलने वाले हो कौन ?"

हाड़ीराम—अच्छा, अब हम कौन हो गए !

सुलक्खी—(उसी तरह गुस्से से) मेहनत मैं करती हूं। रात-दिन मैं जागती हूं, फिर सारे के सारे बेर बांट देती हूं। आप एक बेर भी नहीं खाती। इसपर भी इतना क्रोध ! आखिर आदमी को कुछ सोचना भी

तो चाहिए। जाओ, नहीं दिए न सही। जो कुछ करना हो कर लो।

हाड़ीराम दांत पीसता हुआ चला गया। इधर सुलक्खी बेरी के पास जाकर उससे लिपट गई और बोली, "बेटी! अगर तुम्हारा बाप जीता होता, तो इसकी क्या हिम्मत थी जो इस तरह मेरी बेइज़्ज़ती कर जाता।"

इससे तीसरे दिन सुलक्खी एक बीमार बच्चे की सेवा-शुश्रूषा कर रही थी कि एक लड़का दौड़ता हुआ आया और हांफता हुआ बोला, "तुम्हारी बेरी को हाड़ी ने काट दिया। कई लोगों ने मना भी किया, मगर वह कहता था, मुझे सुलक्खी ने गाली दी है। सारा आंगन भर गया है।"

(७)

सुलक्खी को ऐसा मालूम हुआ जैसे किसीने गोली मार दी है। वहां से चली तो उसे रास्ता न दिखाई देता था। उसके पांव तले से ज़मीन निकलती जा रही थी। उस समय उसके शरीर में ज़रा भी शक्ति न थी। पांव इस तरह लड़खड़ा रहे थे, जैसे अभी गिर पड़ेगी। मार्ग के दोनों ओर लोग खड़े उसको देखते थे और हाड़ी को गालियां देते थे। उस समय उन्हें सुलक्खी का विचार था, हाड़ी का भय न था। वे सुलक्खी के साथ सहानुभूति दिखाना चाहते थे और उन्हें सिवा हाड़ी को गालियां देने के और कोई ढंग न दिखाई देता था।

उधर सुलक्खी का आंगन स्त्री-पुरुषों से भरा था और बीच में बेरी पड़ी थी। लोग कहते थे, "कितना ज़ालिम है, ज़रा-सी बात पर बेरी काट दी! काटने पर ही सबर किया होता तो भी खैर थी। अगले वर्ष फिर उग आती, परन्तु इसने तो जड़ें भी उखाड़ दीं। आदमी काहे को है, चांडाल है।"

सहसा सुलक्खी छोटा-सा घूंघट निकाले आई और आंगन में खड़ी हो गई। उसने बेरी की डालों को ज़मीन पर पड़ा देखा तो उसके दिल पर छुरियां चल गईं। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह वृक्ष की डालियां नहीं उसकी सन्तान के हाथ-पांव हैं। उसने आगे बढ़कर एक-एक डाली को गले लगाया और रो-रोकर विलाप किया। इस विलाप को सुनकर लोग रोने लगे। सुलक्खी कहती थी, "अरी! तूने मुझे बुला क्यों न लिया? बच्ची! पता नहीं, जब तुझपर ज़ालिम का कुल्हाड़ा चला होगा, तेरा दिल क्या कहता होगा। तड़पता होगा। सोचता होगा, मां काहे को है, डायन है।

यह कसाई मेरे हाथ-पांव काट रहा है, वह बाहर घूम रही है। बच्ची! मुझे क्या मालूम था, तेरे सिर पर मौत खेल रही है। अभी भली-चंगी छोड़कर गई थी, अभी-अभी तू बांहें फैलाकर खड़ी थी। तुझे देखकर जी प्रसन्न होता था। इतनी जल्दी तैयारी कर ली! अब तेरे बेरों को लोग तरसेंगे, ऐसे मीठे बेर और कहां हैं!

"तेरे बाप ने मरते समय कहा था, जब तक जीती है, इसकी रक्षा करना और इसके बेर लोगों में बांटना। आज ये दोनों बातें असम्भव हो गईं। अब मेरा जीना वृथा है। चल, दोनों एकसाथ चलें, वहां तीनों मिलकर रहेंगे।"

यह कहकर उसने बेरी की डालियों की चिता-सी चुनी। नीचे-ऊपर सूखी लकड़ियां डालकर उसपर घी डाला और आग लगा दी। आग की ज्वालाएं हवा में उठने लगीं। लोग पीछे हट गए, मगर सुलक्खी जलती हुई बेरी के पास चुपचाप खड़ी उसकी ओर देख रही थी।

सहसा वह चिता में कूद पड़ी। लोगों में हलचल मच गई। वे 'हैं-हैं' करते हुए आगे बढ़े, परन्तु आग की ज्वालाओं ने उनका रास्ता रोक लिया। सुलक्खी आग में बैठी जल रही थी, किन्तु उसके मुख पर ज़रा परेशानी, ज़रा घबराहट न थी, बल्कि आत्मिक प्रकाश था, जैसे उसके लिए आग न थी, ठण्डा जल था। इतने में आग में से आवाज़ आई, "मैं मरते समय वसीयत करती हूं कि मेरे कुल के लोग भविष्य में दान न लें।"

पुरुषों की आंखों से आंसू जारी थे। स्त्रियां फूट-फूटकर रो रही थीं, परन्तु सुलक्खी मृत्यु के गरजते हुए शोलों में चुपचाप बैठी थी। देखते-देखते मां-बेटी दोनों जलकर भस्म हो गईं। कल दोनों जीते थे, आज कोई भी न था।

थोड़ी देर बाद सुलक्खी का भाई लछमन और गांव के जाट लाठियां लिए हाड़ीराम को ढूंढ़ते फिरते थे। वे कहते थे, "आज उसको जीता न छोड़ेंगे। पहले मारेंगे, फिर बांधकर आग में जला देंगे।"

परन्तु हाड़ीराम जंगलों और वनों में मुंह छिपाता फिरता था। इसके बाद उसको किसीने नहीं देखा। कब मरा? कहां मरा? कैसे मरा?— यह किसीको भी मालूम नहीं।

कहानी और कहानीकार

यशपाल



वर्तमान कहानी-लेखकों में यशपाल जी का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। आपने बी० ए० तक शिक्षा पाई है। सशस्त्र क्रांतिकारियों के दल में सम्मिलित होकर आप कई बार जेल गए।

आपकी कृतियों पर राजनीति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आप कई वर्षों तक 'विप्लव' नामक पत्र का सम्पादन करते रहे। मनुष्य की कोमल और यथार्थ अनुभूतियों और स्वाभाविक तथ्यों के दर्शन आपकी कृतियों में होते हैं।

आपकी भाषा और शैली प्रसादगुणसम्पन्न और कलात्मक होती हैं। झूठा सच (२ भाग), दिव्या आदि आपके प्रसिद्ध उपन्यास तथा अभिशप्त, वो दुनिया, ज्ञानदान, पिंजरे की उड़ान आदि कहानी-संग्रह हैं। आपकी कहानियों की शैली और कथ्य विशेषता लिए होते हैं।

प्रस्तुत कहानी

'दुःख' में श्री यशपाल ने यथार्थ दुःख को दिखाया है और नकली दुःख पर व्यंग्य किया है। कहानी की भाषा में तीखापन और ओज है। ये गुण पाकर 'दुःख' एक ज़ोरदार कहानी बन गई है।

दुःख

(यशपाल)

जिसे मनुष्य सर्वापेक्षा अपना समझ भरोसा करता है, जब उसीसे अपमान और तिरस्कार प्राप्त हो, तब मन वितृष्णा से भर जाता है; एकदम मर जाने की इच्छा होने लगती है; इसे शब्दों में बता सकना सम्भव नहीं।

दिलीप ने हेमा को पूर्ण स्वतन्त्रता दी थी। वह उसका कितना आदर करता था, कितनी आन्तरिकता से वह उसके प्रति अनुरक्त था! बहुत-से लोग इसे 'अति' कहेंगे। इसपर भी जब वह हेमा को संतुष्ट न कर सका और हेमा केवल दिलीप के उसकी सहेली के साथ सिनेमा देख आने के कारण दिन-भर रूठी रहकर दूसरे ही दिन मां के घर चली गई, तब दिलीप के मन में क्षोभ का अन्त न रहा।

सितम्बर का अन्तिम सप्ताह था। वर्षा की ऋतु बीत जाने पर भी दिन-भर पानी बरसता रहा। दिलीप बैठक की खिड़की और दरवाज़ों पर पर्दे डाले बैठा था। वितृष्णा और ग्लानि में समय स्वयं यातना बन जाता है। एक मिनट गुज़रना मुश्किल हो जाता है। समय को बीतता न देख दिलीप खीझकर सो जाने का यत्न करने लगा। इसी समय ज़ीने पर से छोटे भाई के धम-धम कर उतरते चले आने का शब्द सुनाई दिया। अलसाई हुई आंख को आधा खोल उसने दरवाज़े की ओर देखा।

छोटे भाई ने पर्दे को हटाकर पूछा, "भाईजी, आपको कहीं जाना न हो तो मैं मोटर-साइकिल ले जाऊं?"

इस विघ्न से शीघ्र छुटकारा पाने के लिए दिलीप ने हाथ के इशारे से

इजाज़त दे, आंखें बन्द कर लीं।

दीवार पर टंगे क्लाक ने कमरे को गुंजाते हुए छः बज जाने की सूचना दी। दिलीप को अनुभव हुआ—क्या वह योंही कैद में पड़ा रहेगा। उठकर खिड़की का पर्दा हटाकर देखा, बारिश थम गई थी। अब उसे दूसरा भय हुआ, कोई आ बैठेगा और अप्रिय चर्चा चला देगा।

वह उठा। भाई की साइकिल ले, गली के कीचड़ से बचता हुआ और उससे अधिक लोगों की निगाहों से छिपता हुआ वह मोरी दरवाज़े से बाहर निकल, शहर की पुरानी फसील के बाग से होता हुआ मिंटो पार्क जा पहुंचा। उस लम्बे-चौड़े मैदान में पानी से भरी घास पर पछवा के तेज़ झोंकों में ठिठुरने के लिए उस समय कौन आता!

उस एकांत में एक बेंच के सहारे साइकिल खड़ी कर वह बैठ गया। सिर से टोपी उतार बेंच पर रख दी। सिर में ठण्ड लगने से मस्तिष्क की व्याकुलता कुछ कम हुई।

खयाल आया, यदि ठण्ड लग जाने से वह बीमार हो जाए, उसकी हालत खराब हो जाए, तो वह चुपचाप शहीद की तरह अपने दुःख को अकेला ही सहेगा। 'किसीको' अपने दुःख का भाग लेने के लिए न बुलाएगा। एक दिन मृत्यु दबे पांव आएगी और उसके रोग के कारण, हृदय की व्यथा और रोग को ले, उसके सिर पर सांत्वना का हाथ फेर उसे शांत कर चली जाएगी। उस दिन जो लोग रोने बैठें, उनमें हेमा भी होगी। उस दिन उसे खोकर हेमा अपने नुक्सान का अन्दाज़ा कर अपने व्यवहार के लिए पछताएगी। यही बदला होगा दिलीप के चुपचाप दुःख सहते जाने का। ...श्चय कर उसने सन्तोष का एक दीर्घ निःश्वास लिया। करवट बदल ठंडी हवा खाने के लिए वह बैठ गया।

समीप तीन फर्लांग पर मुख्य रेलवे लाइन से कितनी ही गाड़ियां गुज़र चुकी थीं। उधर दिलीप का ध्यान न गया था। अब जब फ्रंटियर मेल तूफान वेग से, तीव्र कोलाहल करती हुई गुज़री तो दिलीप ने उस ओर देखा। लगातार फर्स्ट और सैकण्ड के डिब्बों से निकलने वाले तीव्र प्रकाश से वह समझ गया—फ्रंटियर मेल जा रही है, साढ़े नौ बज गए।

स्वयं सहे अन्याय के प्रतिकार की एक सम्भावना देख उसका मन

हल्का हो गया था। वह लौटने के लिए उठा। शरीर मे कुछ शैथिल्य की मात्रा बाकी रहने के कारण साइकिल पर न चढ़ वह पैदल-पैदल बागोबाग, बादशाही मस्जिद से टकसाली दरवाज़े और टकसाली से भाटी दरवाज़े पहुंचा। मार्ग में शायद ही कोई व्यक्ति दिखाई दिया हो। सड़क-किनारे स्तब्ध खड़े बिजली के लैम्प निष्काम और निर्विकार भाव से अपना प्रकाश सड़क पर डाल रहे थे। मनुष्यों के अभाव की कुछ भी परवाह न कर लाखों पतंगे गोले बांध-बांधकर, इन लैम्पों के चारों ओर नृत्य कर रहे थे। और जगत् के यह अद्‌भुत नमूने थे। प्रत्येक पतंगा एक नक्षत्र की भांति अपने मार्ग पर चक्कर काट रहा था। कोई छोटा, कोई बड़ा दायरा बना रहा था। कोई दायें को, कोई बायें को, कोई आगे को, कोई विपरीत गति में निरंतर चक्कर काटते चले जा रहे थे। कोई किसीसे टकराता नहीं। वृक्षों के भीगे पत्ते बिजली के प्रकाश में चमचमा रहे थे।

एक लैम्प के नीचे से आगे बढ़ने पर उसकी छोटी परछाई उसके आगे फैलती चलती। ज्यों-ज्यों वह लैम्प से आगे बढ़ता, परछाई पलटकर पीछे हो जाती। बीच-बीच में वृक्षों की टहनियों की परछाई उसके ऊपर से होकर निकल जाती। सड़क पर पड़ा प्रत्येक भीगा पत्ता लैम्पों की किरणों का उत्तर दे रहा था। दिलीप सोच रहा था—मनुष्य के बिना भी संसार कितना व्यस्त और रोचक है!

कुछ कदम आगे बढ़ने पर सड़क-किनारे नीबू के वृक्षों की छाया में कोई श्वेत-सी चीज़ दिखाई दी। कुछ और बढ़ने पर मालूम हुआ, कोई छोटा-सा लड़का सफेद कुर्ता-पायजामा पहिरे एक थाली सामने रखे कुछ बेच रहा है।

बचपन में गली-मुहल्ले के लड़कों के साथ उसने अक्सर खोमचेवाले से सौदा खरीदकर खाया था। अब वह इन बातों को भूल चुका था। परन्तु इस सर्दी में सुनसान सड़क पर, जहां कोई आनेवाला नहीं, यह खोमचा बेचनेवाला कैसे बैठा है?

खोमचेवाले के क्षुद्र शरीर और आयु ने भी उसका ध्यान आकर्षित किया। उसने देखा, रात में सौदा बेचने निकलने वाले इस सौदागर के पास मिट्टी के तेल की ढिबरी तक नहीं। समीप आकर उसने देखा, वह

लड़का सर्द हवा में सिकुड़कर बैठा था। दिलीप के समीप आने पर उसने आशा की एक निगाह उसकी ओर डाली और फिर आंखें झुका लीं।

दिलीप ने और ध्यान से देखा। लड़के के मुख पर खोमचा बेचनेवालों की चतुरता न थी, बल्कि उसकी जगह थी एक कायरता। उसकी थाली भी खोमचे का थाल न होकर घरेलू व्यवहार की एक मामूली हल्की मुरादाबादी थाली थी। तराजू भी न थी। थाली में कागज़ के आठ टुकड़ों पर पकौड़ों की बराबर-बराबर ढेरियां लगाकर रख दी गई थीं।

दिलीप ने सोचा, इस ठण्डी रात में हमीं दो व्यक्ति बाहर हैं। वह उसके पास जाकर ठिठक गया। मनुष्य-मनुष्य में कितना भेद होता है! परन्तु मनुष्यत्व एक चीज़ है जो कभी-कभी भेद की सब दीवारों को लांघ जाती है। दिलीप को समीप खड़े होते देख लड़के ने कहा :

"एक-एक पैसे में एक-एक ढेरी।"

एक क्षण चुप रहकर दिलीप ने पूछा, "सबके कितने पैसे?" बच्चे ने उंगली से ढेरियों को गिनकर जवाब दिया, "आठ पैसे।"

दिलीप ने केवल बात बढ़ाने के लिए पूछा, "कुछ कम नहीं कर लेगा?"

सौदा बिक जाने की आशा से जो प्रफुल्लता बालक के चेहरे पर आ गई थी, वह दिलीप के इस प्रश्न से उड़ गई। उसने उत्तर दिया, "मां बिगड़ेगी।"

इस उत्तर से दिलीप द्रवित हो गया और बोला, "क्या पैसे मां को देगा?" बच्चे ने हामी भरी।

दिलीप ने कहा, "अच्छा, सब दे दो।"

लड़के की व्यस्तता देख दिलीप ने अपना रूमाल निकालकर दे दिया और पकौड़े उसमें बंधवा लिए।

आठ पैसे का खोमचा बेचने जो इस सर्दी में निकला है उसके घर की क्या अवस्था होगी? यह सोचकर दिलीप सिहर उठा। उसने जेब से एक रुपया निकाल लड़के की थाली में डाल दिया। रुपये की खनखनाहट से वह सुनसान रात गूंज उठी। रुपये को देख लड़के ने कहा, "मेरे पास तो पैसे नहीं हैं?"

दिलीप ने पूछा, "तेरा घर कहां है?"

"पास ही गली में है।" लड़के ने जवाब दिया।

दिलीप के मन में उसका घर देखने का कौतुहल जाग उठा। बोला, "चलो, मुझे भी उधर ही जाना है। रास्ते में तुम्हारे घर से पैसे ले लूंगा।"

बच्चे ने घबराकर कहा, "पैसे तो घर पर भी नहीं होंगे।"

दिलीप सुनकर सिहर उठा, परन्तु उत्तर दिया, "होंगे, तुम चलो।"

लड़का खाली थाली को छाती से चिपटा आगे-आगे चला और उसके पीछे बाइसिकल को थामे दिलीप।

दिलीप ने पूछा, "तेरा बाप क्या करता है?"

लड़के ने उत्तर दिया, "बाप मर गया है।"

दिलीप चुप हो गया। कुछ और [illegible] उसने पूछा, "तुम्हारी मां क्या करती है?"

लड़के ने उत्तर दिया, "मां एक बाबू के यहां चौका-बर्तन करती थी; अब बाबू ने हटा दिया।"

दिलीप ने पूछा, "क्यों हटा दिया बाबू ने?"

लड़के ने जवाब दिया, "मां अढ़ाई रुपया महीना लेती थी, जगतू की मां ने बाबू से कहा कि वह दो रुपये में सब काम कर देगी। इसलिए बाबू की घरवाली ने मां को हटाकर जगतू की मां को रख लिया।"

दिलीप फिर चुप हो गया। लड़का नंगे पैर गली के कीचड़ में छपछप करता चला जा रहा था। दिलीप को कीचड़ से बचकर चलने में असुविधा हो रही थी। लड़के की चाल की गति को कम करने के लिए दिलीप ने फिर प्रश्न किया, "तुम्हें जाड़ा नहीं मालूम होता!"

लड़के ने शरीर को गरम करने के लिए चाल को और तेज़ करते हुए उत्तर दिया, "नहीं।"

दिलीप ने फिर प्रश्न किया, "जगतू की मां क्या करती थी?"

लड़के ने कहा, "जगतू की मां स्कूल में लड़कियों को घर से बुला लाती थी। स्कूल वालों ने लड़कियों को घर से लाने के लिए मोटर रख ली है, उसे निकाल दिया।"

गली के मुख पर कमेटी का बिजली का लैम्प जल रहा था। ऊपर की मंज़िल की खिड़कियों से भी गली में कुछ प्रकाश पड़ रहा था। उससे

गली का कीचड़ चमककर किसी कदर मार्ग दिखाई दे रहा था।

संकरी गली में एक बड़ी खिड़की के आकार का दरवाज़ा खुला था। उसका धुंधला लाल-सा प्रकाश सामने पुरानी ईटों की दीवार पर पड़ रहा था, इसी दरवाज़े में लड़का चला गया।

दिलीप ने झांककर देखा, मुश्किल से आदमी के कद की ऊंचाई की कोठरी में—जैसी प्रायः शहरों में ईंधन रखने के लिए बनी रहती हैं—धुआं उगलती मिट्टी के तेल की ढिबरी अपना धुंधला लाल प्रकाश फैला रही थी। एक छोटी चारपाई, जैसी कि श्राद्ध में महाब्राह्मणों को दान दी जाती है, काली दीवार के सहारे खड़ी थी। उसके पाये से दो-एक मैले कपड़े लटक रहे थे। एक क्षीणकाय, आधी उम्र की स्त्री मैली-सी धोती में शरीर लपेटे बैठी थी।

बेटे को देख स्त्री ने पूछा, "सौदा बिका बेटा ?"

लड़के ने उत्तर दिया, "हां मां," और रुपया मां के हाथ में देकर कहा, "बाकी पैसे बाबू को देने हैं।"

रुपया हाथ में ले मां ने विस्मय से पूछा, "कौन बाबू, बेटा ?"

बच्चे ने उत्साह से कहा, "बाईसिकल वाले बाबू ने सब सौदा लिया है। उसके पास छुट्टे पैसे नहीं थे। बाबू गली में खड़ा है।"

घबराकर मां बोली, "रुपये के पैसे कहां मिलेंगे, बच्चा ?" सिर के कपड़े को संभाल दिलीप को सुनाने के अभिप्राय से मां ने कहा, "बेटा, रुपया बाबूजी को लौटाकर घर का पता पूछ ले, पैसे कल ले आना।"

लड़का रुपया दिलीप को लौटाने आया। दिलीप ने ऊंचे स्वर से, ताकि मां सुन ले, कहा, "रहने दो रुपया, कोई परवाह नहीं, फिर आ जाएगा।"

सिर के कपड़े को आगे खींच स्त्री ने कहा, "नहीं जी, आप रुपया लेते जाइए, बच्चा पैसे कल ले आएगा।"

दिलीप ने शरमाते हुए कहा, "रहने दीजिए, यह पैसे मेरी तरफ से बच्चे को मिठाई खाने के लिए रहने दीजिए।"

स्त्री 'नहीं-नहीं' करती रह गई। दिलीप अंधेरे में पीछे हट गया।

स्त्री के मुरझाए, कुम्हलाए, पीले चेहरे पर कृतज्ञता और प्रसन्नता की झलक छा गई। रुपया अपनी चादर की खूंट में बांध एक ईंट पर रखे

पीतल के लोटे से बांह के इशारे से पानी ले उसने हाथ धो लिया और पीतल के एक बेले के नीचे से मैले अंगोछे में लिपटी रोटी निकाल, बेटे का हाथ धुला उसे खाने को दे दी।

बेटा तुरन्त की कमाई से पुलकित हो रहा था। मुंह बनाकर कहा, "ऊं-ऊं, रूखी रोटी !"

मां ने पुचकारकर कहा, "नमक डाला हुआ है, बेटा।"

बच्चे ने रोटी जमीन पर डाल दी और ऐंठ गया, सुबह भी रूखी रोटी—हां, रोज़-रोज़ रूखी।"

हाथ आंखों पर रख बच्चा मुंह फैला[illegible] रोना ही चाहता था, मां ने उसे गोद में खींच लिया और कहा, "मे[illegible]टा, सुबह जरूर दाल खिलाऊंगी। देख, बाबू तेरे लिए रुपया दे[illegible] शाबाश !"

"सुबह मैं तुझे खूब सौदा बना दूंगी, [illegible]र तू रोज़ दाल खाना।"

बेटा रीझ गया। उसने पूछा, "मां, तूने रोटी खा ली ?"

खाली अंगोछे को तहाते हुए मां ने उत्तर दिया, "हां बेटा, मुझे भूख नहीं है, तू खा ले !"

भूखी मां का बेटा बचपन के कारण रूठा था परन्तु मां की बात के बावजूद घर की हालत से परिचित था। उसने अनिच्छा से एक रोटी मां की ओर बढ़ाकर कहा, "एक रोटी तू खा ले।"

मां ने स्नेह से पुचकारकर कहा, "न बेटा, मैंने सुबह देर से खाई थी, मुझे अभी भूख नहीं, तू खा।"

दिलीप के लिए और देख सकना सम्भव न था। दांतों से होंठ दबा वह पीछे हट गया।

मकान पर आकर वह बैठा ही था, नौकर ने आ, दो भद्रपुरुषों के नाम बताकर कहा, आए थे, बैठकर चले गए। खाना तैयार होने की सूचना दी। दिलीप ने उसकी ओर बिना देखे ही कहा, "भूख नहीं।" उसी समय उसे लड़के की मां का 'भूख नहीं' कहना याद आ गया।

नौकर ने विनीत स्वर में पूछा, "थोड़ा दूध ले आऊं ?"

दिलीप को गुस्सा आ गया। उसने विद्रूपता से कहा, "क्यों, भूख न

हो तो दूध पिया जाता है ? …दूध ऐसी फालतू चीज़ है ?"

नौकर कुछ न समझ विस्मित खड़ा रहा ।

दिलीप ने खीझकर कहा, "जाओ जी ।"

मिट्टी के तेल की ढिबरी के प्रकाश में देखा वह दृश्य उसकी आंखों के सामने से हटना न चाहता था ।

छोटे भाई ने आकर कहा, "भाभी ने यह पत्र भेजा है ।" और लिफाफा दिलीप की ओर बढ़ा दिया ।

दिलीप ने पत्र खोला । पत्र की पहली लाइन में लिखा था, "मैं इस जीवन में दुःख ही देखने के … दा हुई हूं…"

दिलीप ने आगे न … ड़कर फेंक दिया । उसके माथे पर बल पड़ गए । उसके मुंह से नि…

"काश ! तुम जानतीं, दुःख किसे कहते हैं ।…तुम्हारा यह रसीला दुःख तुम्हें न मिले तो ज़िन्दगी दूभर हो जाए ।"

कहानी और कहानीकार

भगवतीचरण वर्मा



आपका जन्म शफीपुर, ज़िला उन्नाव, में १९०३ में हुआ । आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षाएं पास कीं । ७वीं कक्षा में पढ़ते थे, तब आपकी कुछ कविताएं कानपुर के दैनिक 'प्रताप' में प्रकाशित हुई थीं, आपकी पहली कहानी १९२१ में 'हिन्दी मनोरंजन' में प्रकाशित हुई । परन्तु पहले आप यशस्वी कवि के नाते ही प्रसिद्ध हुए ।

आपके कई कहानी-संग्रह और उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं । आपका 'चित्रलेखा' उपन्यास अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है ।

प्रस्तुत कहानी

प्रस्तुत कहानी 'प्रायश्चित्त' में परम्परा से प्रचलित अन्ध-विश्वास पर गहरा व्यंग्य है । प्रायश्चित्त के विधि-विधानों के घटाटोप में जब प्रायश्चित्त का कारण ही निर्मूल हो जाता है, वहां गम्भीरता के बीच से एकाएक हास्य का स्रोत फूट पडता है । श्री वर्मा का चित्रण और भाषा 'प्रायश्चित्त' कहानी की जान है—जिसमें महिला-समाज का यथातथ्य चित्रण मानस में उतरता चला जाता है । एक महज़ मामूली घटना से तीखे व्यंग्य की सृष्टि 'प्रायश्चित्त' कहानी की विशेषता है ।

पुस्तक-व्यवहार में बरती गई आपकी यथेष्ट सावधानी पुस्तक को दीर्घकाल तक पाठकों की सेवा करने योग्य बनाये रख सकती है। अतः उसकी पूर्णतय सुरक्षा हेतु पूरी सजगता बरतें।

प्रायश्चित्त

(भगवतीचरण वर्मा)

अगर कबरी बिल्ली घर-भर में किसी से प्रेम करती थी तो रामू की बहू से, और अगर रामू की बहू घर-भर में किसीसे घृणा करती थी तो कबरी बिल्ली से। रामू की बहू दो महीने हुए मायके से प्रथम बार ससुराल आई थी, पति की प्यारी और सास की दुलारी, चौदह वर्ष की बालिका; भंडार-घर की चाभी उसकी करधनी में लटकने लगी, नौकरों पर उसका हुक्म चलने लगा। और रामू की बहू घर में सब कुछ—सास जी ने माला ली और पूजा-पाठ में मन लगाया।

लेकिन ठहरी चौदह वर्ष की बालिका, कभी भंडारघर खुला है, तो कभी भण्डारघर में बैठे-बैठे सो गई। कबरी बिल्ली को मौका मिला, घी-दूध पर अब वह जुट गई। रामू की बहू की जान आफत में, और कबरी बिल्ली के छक्के-पंजे। रामू की बहू हांडी में घी रखते-रखते ऊंघ गई और बचा हुआ घी कबरी के पेट में। रामू की बहू दूध ढककर मिसरानी को जिन्स देने गई और दूध नदारद। अगर बात यहीं तक रह जाती तो भी बुरा न था; कबरी रामू की बहू से ऐसा परच गई थी कि रामू की बहू के लिए खाना-पीना दुश्वार। रामू की बहू के कमरे में रबड़ी से भरी कटोरी पहुंची और रामू जब आए तब कटोरी साफ चटी हुई। बाजार से मलाई आई और जब तक रामू की बहू ने पान लगाया, मलाई गायब। रामू की बहू ने तै कर लिया कि या तो वही घर में रहेगी या फिर कबरी बिल्ली ही। मोरचाबन्दी हो गई और दोनों सतर्क। बिल्ली फंसाने का कठघरा

आया, उसमें दूध-मलाई, चूहे, और भी बिल्ली को स्वादिष्ट लगने वाले विविध प्रकार के व्यंजन रखे गए, लेकिन बिल्ली ने उधर निगाह तक न डाली।···इधर कबरी ने सरगर्मी दिखाई। अभी तक तो वह रामू की बहू से डरती थी; पर अब वह साथ लग गई, लेकिन इतने फासले पर कि रामू की बहू उसपर हाथ न लगा सके।

कबरी के हौसले बढ़ जाने से रामू की बहू को घर में रहना मुश्किल हो गया। उसे मिलती थीं सास की मीठी झिड़कियां, और पतिदेव को मिलता था रूखा-सूखा भोजन।

एक दिन रामू की बहू ने रामू के लिए खीर बनाई। पिस्ता, बादाम, मखाने और तरह-तरह के मेवे दूध में औटाए गए, सोने का वर्क चिपकाया गया और खीर से भरकर कटोरा कमरे के एक ऐसे ऊंचे ताक पर रखा गया जहां बिल्ली न पहुंच सके। रामू की बहू इसके बाद पान लगाने में लग गई।

उधर कमरे में बिल्ली आई, ताक के नीचे खड़े होकर उसने ऊपर कटोरे की ओर देखा, सूंघा, माल अच्छा है, ताक की ऊंचाई अन्दाजी···और रामू की बहू पान लगा रही है। पान लगाकर रामू की बहू सास जी को पान देने चली गई और कबरी ने छलांग मारी, पंजा कटोरे में लगा। कटोरा झनझनाहट की आवाज के साथ फर्श पर।

आवाज रामू की बहू के कान में पहुंची, सास के सामने पान फेंककर वह दौड़ी, क्या देखती है कि फूल का कटोरा टुकड़े-टुकड़े, खीर फर्श पर और बिल्ली डटकर खीर उड़ा रही है। रामू की बहू को देखते ही कबरी चम्पत।

रामू की बहू पर खून सवार हो गया, न रहे बांस न बजे बांसुरी। रामू की बहू ने कबरी की हत्या पर कमर कस ली। रात-भर उसे नींद न आई, किस दांव से कबरी पर वार किया जाए कि फिर जिन्दा न बचे, यही पड़े-पड़े सोचती रही। सुबह हुई और वह देखती है कि कबरी देहरी पर बैठी बड़े प्रेम से उसे देख रही है।

रामू की बहू ने कुछ सोचा, इसके बाद मुस्कराती हुई उठी। कबरी रामू की बहू के उठते ही खिसक गई। रामू की बहू एक कटोरा दूध कमरे के दरवाजे की देहरी पर रखकर चली गई। हाथ में पाटा लेकर वह लौटी

तो देखती है कि कबरी दूध पर जुटी हुई है। मौका हाथ में आ गया। सारा बल लगाकर पाटा उसने बिल्ली पर पटक दिता। कबरी न हिली, डुली, न चीखी, न चिल्लाई, बस एकदम उलट गई।

आवाज़ जो हुई तो महरी झाड़ू छोड़कर, मिसरानी रसोई छोड़कर और सास पूजा छोड़कर घटनास्थल पर उपस्थित हो गई। रामू की बहू सिर झुकाए अपराधिनी की भांति बातें सुन रही है···

महरी बोली, "अरे राम, बिल्ली तो मर गई। मां जी, बिल्ली की हत्या बहू से हो गई, यह तो बुरा हुआ।"

मिसरानी बोली, "मां जी, बिल्ली की हत्या और आदमी की हत्या बराबर है। हम तो रसोई न बनाएंगी, जब तक बहू के सिर पर हत्या रहेगी।"

सास जी बोलीं, "हां, ठीक तो कहती हो, जब तक बहू के सिर से हत्या न उतर जाए तब तक न कोई पानी पी सकता है, न खाना खा सकता है। बहू, यह क्या कर डाला!"

महरी ने फिर कहा, "फिर क्या हो, कहो तो पण्डित जी जो बुलाय लाई।"

सास की जान में जान आई, "अरे हां, जल्दी दौड़ के पण्डित जी को बुला ला।"

बिल्ली की हत्या की खबर बिजली की तरह पड़ोस में फैल गई। पड़ोस की औरतों का रामू के घर में तांता बंध गया। चारों तरफ से प्रश्नों की बौछार—और रामू की बहू सिर झुकाए बैठी।

पंडित परमसुख को जब यह खबर मिली, उस समय वे पूजा कर रहे थे। खबर पाते ही वे उठ पड़े। पण्डिताइन से मुस्कराते हुए बोले, "भोजन न बनाना। लाला घासीराम की पतोहू ने बिल्ली मार डाली। प्रायश्चित्त होगा, पकवानों पर हाथ लगेगा।"

पण्डित परमसुख चौबे छोटे-से, मोटे-से आदमी थे। लम्बाई चार फुट दस इंच और तोंद का घेरा अट्ठावन इंच। चेहरा गोल-मटोल, मूंछ बड़ी-बड़ी, रंग गोरा, चोटी कमर तक पहुंचती हुई।

कहा जाता है कि मथुरा में जब पंसेरी खुराक वाले पंडित को ढूंढ़ा जाता था तो पंडित परमसुख जी को उस लिस्ट में प्रथम स्थान दिया

जाता था।

पण्डित परमसुख पहुंचे, और कोरम पूरा हुआ। पंचायत बैठी—सास जी, मिसरानी, किसनू की मां, छन्नू की दादी और पंडित परमसुख! बाकी सब स्त्रियां बहू से सहानुभूति प्रकट कर रही थीं।

किसनू की मां ने कहा "पंडित जी, बिल्ली की हत्या करने से कौन नरक मिलता है?"

पंडित परमसुख ने पत्रा देखते हुए कहा, "बिल्ली की हत्या अकेले से तो नरक का नाम नहीं बतलाया जा सकता, वह महूरत भी जब मालूम हो जब बिल्ली की हत्या हुई, तब नरक का पता लग सकता है।"

"यही कोई सात बजे सुबह।" मिसरानी जी ने कहा।

पंडित परमसुख ने पन्ने के पन्ने उलटे, अक्षरों पर उंगलियां चलाईं, माथे पर हाथ लगाया और कुछ सोचा। चेहरे पर धुंधलापन आया। माथे पर बल पड़े, नाक कुछ सिकुड़ी और स्वर गम्भीर हो गया, "हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! बड़ा बुरा हुआ, प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में बिल्ली की हत्या! घोर कुम्भी-पाक नरक का विधान है। रामू की मां, यह तो बड़ा बुरा हुआ!"

रामू की मां की आंखों में आंसू आ गए, "तो फिर पण्डित जी, अब क्या होगा, आप ही बतलाएं!"

पंडित परमसुख मुस्कराए, "रामू की मां, चिन्ता की कौन-सी बात है, हम पुरोहित फिर कौन दिन के लिए हैं? शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है, सो प्रायश्चित्त से सब कुछ ठीक हो जाएगा।"

रामू की मां ने कहा, "पंडित जी, इसीलिए तो आपको बुलवाया था, अब आगे बतलाओ कि क्या किया जाए।"

"किया क्या जाए—यही एक सोने की बिल्ली बनवाकर बहू से दान करवा दी जाए—जब तक बिल्ली न दे दी जाएगी तब तक तो घर अपवित्र रहेगा। बिल्ली दान देने के बाद इक्कीस दिन का पाठ हो जाए।"

छन्नू की दादी ने कहा—"हां, और क्या, पंडित जी तो ठीक कहते हैं, बिल्ली अभी दान दे दी जाए और पाठ फिर हो जाए।"

रामू की मां ने कहा, "तो पंडित जी, कितने तोले की बिल्ली बनवाई

जाए ?"

पंडित परममुख मुस्कराए, अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा, "बिल्ली कितने तोले की बनवाई जाए ? अरे रामू की मां, शास्त्रों में तो लिखा है कि बिल्ली के वज़न-भर सोने की बिल्ली बनवाई जाए। लेकिन अब कलियुग आ गया है, धर्म-कर्म का नाश हो गया है, श्रद्धा नहीं रही। सो रामू की मां, बिल्ली के तोल-भर की बिल्ली तो क्या बनेगी, क्योंकि बिल्ली बीस-इक्कीस सेर से कम की क्या होगी। हां, कम से कम इक्कीस तोले की बिल्ली बनवाकर दान करवा दो, और आगे तो अपनी अपनी श्रद्धा !"

रामू की मां ने आंखें फाड़कर पंडित परममुख को देखा, "अरे बाप रे ! इक्कीस तोला सोना ! पंडित जी, यह तो बहुत है—तोला-भर की बिल्ली से काम निकलेगा ?"

पंडित परममुख हंस पड़े, "रामू की मां ! एक तोला सोने की बिल्ली ! अरे, रुपये का लोभ बहू से बढ़ गया ? बहू के सिर बड़ा पाप है—इसमें इतना लोभ ठीक नहीं !"

मोल-तोल शुरू हुआ और मामला ग्यारह तोले की बिल्ली पर ठीक हो गया।

इसके बाद पूजा-पाठ की बात आई। पंडित परममुख ने कहा, "उसमें क्या मुश्किल है, हम लोग किस दिन के लिए हैं ? रामू की मां, मैं पाठ कर दिया करूंगा, पूजा की सामग्री आप हमारे घर भिजवा देना।"

"पूजा का कितना सामान लगेगा ?"

"अरे, कम से कम सामान में हम पूजा कर देंगे, दान के लिए करीब दस मन गेहूं, एक मन चावल, एक मन दाल, मन-भर तिल, पांच मन जौ, पांच मन चना, चार पंसेरी घी और मन-भर नमक भी लगेगा।"

"अरे बाप रे, इतना सामान ! इसमें तो सौ-डेढ़ सौ रुपया खर्च हो जाएगा।" रामू की मां ने रुआंसी-सी होकर कहा।

"फिर इससे कम में तो काम न चलेगा। बिल्ली की हत्या कितना बड़ा पाप है, रामू की मां ! खर्च को देखते वक्त पहले बहू के पाप को तो देख लो ! यह तो प्रायश्चित्त है।"

पंडित परममुख की बात से पंच प्रभावित हुए; किसनू की मां ने कहा, "पंडित जी ठीक तो कहते हैं।"

छन्नू की दादी ने कहा, "और नहीं तो क्या, दान-पुन्न से ही पाप कटते हैं। दान-पुन्न में किफायत ठीक नहीं।"

मिसरानी ने कहा, "अरे फिर मां जी, आप लोग बड़े आदमी ठहरे। इतना खर्च क्यों आप लोगों को अखरेगा ?"

रामू की मां ने अपने चारों ओर देखा—सभी पंच पंडित जी के साथ। पंडित परमसुख मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा, "रामू की मां, एक तरफ तो बहू के लिए कुम्भी-पाक नरक है और दूसरी तरफ तुम्हारे ज़िम्मे थोड़ा-सा खर्चा है। मुंह न मोड़ो।"

एक ठंडी सांस लेते हुए रामू की मां ने कहा, "अब तो जो नाच नचाओगे, नाचना ही होगा।"

पंडित परमसुख ज़रा कुछ बिगड़कर बोले, "रामू की मां ! यह तो खुशी की बात है, अगर तुम्हें यह अखरता है तो न करो—मैं चला।" इतना कहकर पंडित जी ने पोथी-पत्रा बटोरा।

"अरे पंडित जी, रामू की मां को कुछ नहीं अखरता—बेचारी को कितना दुख है—बिगड़ो न।" मिसरानी, छन्नू की दादी और किसनू की मां ने एक स्वर में कहा।

रामू की मां ने पंडित जी के पैर पकड़े—और पंडित जी ने अब जमकर आसन जमाया।

"और क्या हो ?"

"इक्कीस दिन के पाठ के इक्कीस रुपये और इक्कीस दिन तक दोनों वखत पांच-पांच ब्राह्मणों को भोजन करवाना पड़ेगा।"—कुछ रुककर पंडित परमसुख ने कहा, "सो इसकी चिन्ता न करो, मैं अकेले दोनों समय भोजन कर लूंगा और मेरे अकेले के भोजन करने से पांच ब्राह्मणों के भोजन का फल मिल जाएगा।"

"यह तो पंडित जी ठीक कहते हैं, पंडित जी की तोंद तो देखो।" मिसरानी ने मुस्कराते हुए पंडित जी पर व्यंग्य किया।

"अच्छा, तो फिर प्रायश्चित्त का प्रवन्ध करवाओ, रामू की मां !

ग्यारह तोला सोना निकालो, मैं उसकी बिल्ली बनवा लाऊं—दो घंटे में मैं बनवाकर लौटूंगा, तब तक सब पूजा का प्रबन्ध कर रखो—और देखो, पूजा के लिए…"

पंडित जी की बात खत्म भी न हुई थी कि महरी हांफती हुई कमरे में घुस आई और सब लोग चौंक उठे। राम की मां ने घबराकर कहा, "अरी, क्या हुआ री!"

महरी ने लड़खड़ाते स्वर में कहा, "मां जी, बिल्ली तो उठकर भाग गई।"

कहानी और कहानीकार

रांगेय राघव



रांगेय राघव का जन्म १७ जनवरी १९२३ को वैर के रियासती मंदिर सीताराम के तमिल महंत स्वामी रंगाचार्य के घर हुआ। अन्य दो बड़े भाइयों के साथ आप आगरा में पढ़े और 'गुरु गोरखनाथ' पर डाक्टरेट की उपाधि लेकर हिन्दी साहित्य की सेवा में रत हो गए। सबसे पहले उनकी रचना कलकत्ता के 'विशाल भारत' पत्र में छपी।

तमिलनाडु के निवासी और तमिलभाषी होकर भी उन्होंने राजस्थान में बसकर आजीवन हिन्दी की सेवा की।

साहित्य की प्रायः सभी विधाओं पर उन्होंने लिखा। राजस्थान साहित्य अकादेमी, उत्तर प्रदेश सरकार तथा अन्य कई संस्थाओं से उन्हें अपनी कृतियों पर पुरस्कार मिले। 'राह न रुकी', 'कब तक पुकारूं', 'पक्षी और आकाश' उनके श्रेष्ठ उपन्यास हैं। वे अच्छे कहानीकार और कवि भी थे।

प्रस्तुत कहानी

प्रस्तुत कहानी 'गूंगे' में श्री रांगेय राघव ने उन दुःखों का चित्रण किया है जिनके लिए कोई भाषा नहीं, जिनकी कोई अभिव्यक्ति नहीं। 'गूंगे' उनकी मार्मिक कहानी है—माता-पिता के स्नेह से वंचित मूक बालक के मानसिक दुःख की कहानी।

सुधी पाठक, "दास कबीर जतन से ओढी ज्यों की त्यों घर दीन्ही चदरिया" बोध-वाणी पुस्तक के साथ आपकी आचार-संहिता का मूलाधार बने।

गूंगे

(रांगेय राघव)

"शकुन्तला क्या नहीं जानती ?"

"कौन ? शकुन्तला ! कुछ भी नहीं जानती।"

"क्यों साहब ? क्या नहीं जानती ? ऐसा क्या काम है जो वह नहीं कर सकती ?"

"वह उस गूंगे को नहीं बुला सकती।"

"अच्छा, बुला दिया तो ?"

"बुला दिया !"

बालिका ने एक बार कहनेवाली की ओर द्वेष से देखा और चिल्ला उठी—ढूंदे !

गूंगे ने नहीं सुना। तमाम स्त्रियां खिलखिलाकर हंस पड़ीं। बालिका ने मुंह छिपा लिया।

जन्म से वज्र बहरा होने के कारण वह गूंगा है। उसने अपने कानों पर हाथ रखकर इशारा किया। सब लोगों को उसमें दिलचस्पी पैदा हो गई, जैसे तोते को राम-राम कहते सुनकर उसके प्रति हृदय में एक आनन्द-मिश्रित कुतूहल उत्पन्न हो जाता है।

चमेली ने उंगलियों से इंगित किया—फिर ?

मुंह के आगे इशारा करके गूंगे ने बताया—भाग गई। कौन ? फिर समझ में आया। जब छोटा ही था तब 'मां', जो घूंघट काढ़ती थी,

छोड़ गई। क्योंकि 'बाप', अर्थात् बड़ी-बड़ी मूंछें, मर गया था। और फिर उसे पाला है···किसने ? यह तो समझ में नहीं आया, पर वे लोग मारते बहुत हैं।

करुणा ने सबको घेर लिया। वह बोलने की कितनी ज़बर्दस्त कोशिश करता है। लेकिन नतीजा कुछ नहीं, केवल कर्कश कायं-कायं का ढेर। अस्फुट ध्वनियों का वमन, जैसे आदिम मानव अभी भाषा बनाने में जी-जान से लड़ रहा हो।

चमेली ने पहली बार अनुभव किया कि यदि गले में काकल तनिक ठीक नहीं हो तो मनुष्य क्या से क्या हो जाता है। कैसी यातना है कि वह अपने हृदय को उगल देना चाहता है किन्तु उगल नहीं पाता।

सुशीला ने आगे बढ़कर इशारा किया—मुंह खोल ! और गूंगे ने मुंह खोल दिया। लेकिन उसमें कुछ दिखाई नहीं दिया। पूछा, गले में कौआ है ? गूंगा समझ गया। इशारे से ही बता दिया—किसीने बचपन में गला साफ करने की कोशिश में काट दिया। और वह ऐसे बोलता है जैसे घायल पशु कराह उठता है; शिकायत करता है, जैसे कुत्ता चिल्ला रहा हो; और कभी-कभी उसके स्वर में ज्वालामुखी के विस्फोट की सी भयानकता थपेड़े मार उठती है। वह जानता है कि वह सुन नहीं सकता। और बताकर मुस्कराता है। वह जानता है कि उसकी बोली को कोई नहीं समझता, फिर भी बोलता है।

सुशीला ने कहा, "इशारे गज़ब के करता है। अक्ल बहुत तेज़ है।"

पूछा, "खाता क्या है, कहां से मिलता है ?"

वह कहानी ऐसी है जिसे सुनकर सब स्तब्ध बैठे हैं। हलवाई के यहां रात-भर लड्डू बनाए हैं, कढ़ाई मांजी है, नौकरी की है, कपड़े धोए हैं—सबके इशारे हैं, लेकिन···

गूंगे का स्वर चीत्कार में परिणत हो गया। सीने पर हाथ मारकर इशारा किया—हाथ फैलाकर कभी नही मांगा, भीख नहीं लेता; भुजाओं पर हाथ रखकर इशारा किया—मेहनत का खाता हूं; और पेट बजाकर दिखाया—इसके लिए, इसके लिए···

अनाथाश्रम के बच्चों को देखकर चमेली रोती थी। आज भी उसकी

आंखों में पानी आ गया। वह सदा से ही कोमल है! सुशीला से बोली—इसे तो नौकर भी नहीं रखा जा सकता।

पर गूंगा उस समय समझा रहा था। वह दूध ले आता है। कच्चा मंगाना हो, थन काढ़ने का इशारा कीजिए; औटा हुआ मंगाना हो, हलवाई जैसे एक बर्तन से दूध दूसरे बर्तन में उठाकर डालता है, वैसी बात कहिए। साग मंगाना हो, गोल-मोल कीजिए या लम्बी उंगली दिखाकर समझाइए···और भी···और भी···

और चमेली ने इशारा किया—हमारे यहां रहेगा?

गूंगे ने स्वीकार तो किया किन्तु हाथ से इशारा किया—क्या दोगी? खाना?

"हां।" चमेली ने सिर हिलाया।

"कुछ पैसे?"

चार उंगलियां दिखा दीं।

गूंगे ने सीने पर हाथ मारकर जैसे कहा—तैयार हैं। चार रुपये!

सुशीला ने कहा, "पछताओगी। भला यह क्या काम करेगा?"

"मुझे तो दया आती है बिचारे पर!" चमेली ने उत्तर दिया, "न हो, बच्चों की तबीयत बहलेगी।"

घर पर बुआ मारती थी, फूफा मारता था, क्योंकि उन्होंने उसे पाला था। वे चाहते थे कि बाजार में पल्लेदारी करे, बारह-चौदह आने कमाकर लाए और उन्हें दे दे, बदले में वे उसके सामने बाजरे और चने की रोटियां डाल दें। अब गूंगा घर भी नहीं जाता। यहीं काम करता है। बच्चे चिढ़ाते हैं। कभी नाराज नहीं होता। चमेली के पति सीधे-सादे आदमी हैं—पल जाएगा बेचारा! किन्तु वे जानते हैं कि मनुष्य की करुणा की भावना उसके भीतर गूंगेपन की प्रतिच्छाया है: जब वह बहुत कुछ करना चाहता है, किन्तु कर नहीं पाता। इसी तरह दिन बीत रहे हैं।

चमेली ने पुकारा—गूंगे!

किन्तु कोई उत्तर नहीं आया, उठकर ढूंढ़ा—कुछ पता नहीं लगा।

बसंता ने कहा, "मुझे तो कुछ नहीं मालूम।"

"भाग गया होगा।" पति का उदासीन स्वर सुनाई दिया। सचमुच वह भाग गया था। कुछ भी समझ में नहीं आया। चुपचाप जाकर खाना पकाने लगी। क्यों भाग गया? नाली का कीड़ा! एक छत उठाकर सिर पर रख दी, फिर भी मन नहीं भरा। दुनिया हंसती है, हमारे घर को अब अजायबघर का नाम मिल गया है···किसलिए?···

जब बच्चे और वे भी खाकर उठ गए तो चमेली बची रोटियां कटोरदान में रखकर उठने लगी। एकाएक द्वार पर कोई छाया हिल उठी। वह गूंगा था। हाथ से इशारा किया—भूखा हूं।

"काम तो करता नहीं, भिखारी!" फेंक दीं उसकी ओर रोटियां। रोष से पीठ मोड़कर खड़ी हो गई। किन्तु गूंगा खड़ा रहा। रोटियां छुईं तक नहीं। देर तक दोनों चुप रहे। फिर न जाने क्यों गूंगे ने रोटियां उठा लीं और खाने लगा। चमेली ने गिलासों में दूध भर दिया। देखा, गूंगा खा चुका है। उठी और हाथ में चिमटा लेकर उसके पास खड़ी हो गई।

"कहां गया था?" चमेली ने कठोर स्वर से पूछा।

कोई उत्तर नहीं मिला। अपराधी की भांति सिर झुक गया। सड़ से एक चिमटा उसकी पीठ पर जड़ दिया! किन्तु गूंगा रोया नहीं। वह अपने अपराध को जानता था। चमेली की आंखों से दो बूंदें ज़मीन पर टपक गईं। तब गूंगा भी रो दिया।

और फिर यह भी होने लगा कि गूंगा जब चाहे भाग जाता, फिर लौट आता। उसे जगह-जगह नौकरी करके भाग जाने की आदत पड़ गई थी। और चमेली सोचती कि उसने उस दिन भीख ली थी या ममता की ठोकर को निस्संकोच स्वीकार कर लिया था।

बसंता ने कसकर गूंगे के चपत जड़ दी। गूंगे का हाथ उठा और न जाने क्यों अपने-आप रुक गया। उसकी आंखों में पानी भर आया और वह रोने लगा। उसका रुदन इतना कर्कश था कि चमेली को चूल्हा छोड़-कर उठ आना पड़ा। गूंगा उसे देखकर इशारों से कुछ समझाने लगा। देर तक चमेली उससे पूछती रही। उसकी समझ में इतना ही आया कि

खेलते-खेलते वसंता ने उसे मार दिया था।

वसंता ने कहा, "अम्मा ! यह मुझे मारना चाहता था।"

"क्यों रे ?" चमेली ने गूंगे की ओर देखकर कहा। वह इस समय भी नहीं भूली थी कि गूंगा कुछ सुन नहीं सकता। लेकिन गूंगा भाव-भंगिमा से समझ गया। उसने चमेली का हाथ पकड़ लिया। एक क्षण को चमेली को लगा जैसे उसी के पुत्र ने आज उसका हाथ पकड़ लिया था। एकाएक घृणा से उसने हाथ छुड़ा लिया। पुत्र के प्रति मंगल-कामना ने उसे ऐसा करने को मजबूर कर दिया।

कहीं उसका भी बेटा गूंगा होता तो वह भी ऐसे ही दुःख उठाता। वह कुछ भी नहीं सोच सकी। एक बार फिर गूंगे के प्रति हृदय में ममता भर आई। वह लौटकर चूल्हे पर जा बैठी, जिसमें अन्दर आग थी, लेकिन उसी आग से वह सब पक रहा था जिससे सबसे भयानक आग बुझती है—पेट की आग, जिसके कारण आदमी गुलाम हो जाता है। उसे अनुभव हुआ कि गूंगे में वसंता से कहीं अधिक शारीरिक बल था। कभी भी गूंगे की भांति शक्ति से वसंता ने उसका हाथ नहीं पकड़ा था। लेकिन फिर भी गूंगे ने अपना उठा हाथ वसंता पर नहीं चलाया।

रोटी जल रही थी। झट से पलट दी। पक रही थी।···इसीसे वसंता वसंता है···गूंगा गूंगा है···

चमेली को विस्मय हुआ। गूंगा शायद यह समझता है कि वसंता मालिक का बेटा है, उसपर वह हाथ नहीं चला सकता। मन ही मन थोड़ा विक्षोभ भी हुआ, किन्तु पुत्र की ममता ने इस विषय पर चादर डाल दी। और फिर याद आया, उसने उसका हाथ पकड़ा था। शायद इसीलिए कि उसे वसंता को दण्ड देना ही चाहिए, यह उसको अधिकार है···।

किन्तु वह तब समझ नहीं सकी, और उसने सुना, गूंगा कभी-कभी कराह उठता था। चमेली उठकर बाहर गई। कुछ सोचकर रसोई में लौट आई और रात की बासी रोटी लेकर निकली।

"गूंगे !" उसने पुकारा।

कान के न जाने किस पर्दे में कोई चेतना है कि गूंगा उसकी आवाज को कभी अनसुना नहीं कर सकता; वह आया। उसकी आंखों में पानी भरा

था; जैसे उनमें एक शिकायत थी, पक्षपात के प्रति तिरस्कार था। चमेली को लगा कि लड़का बहुत तेज़ है। बरबस ही उसके होंठों पर मुस्कान छा गई। कहा—"ले, खा ले !"—और हाथ बढ़ा दिया।

गूंगा इस स्वर की, इस सबकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह हंस पड़ा। अगर उसका रोना एक अजीब दर्दनाक आवाज़ था, तो यह हंसना और कुछ नहीं···। एक भयानक गुर्राहट-सी चमेली के कानों में बज उठी। उस अमानवीय स्वर को सुनकर वह भीतर ही भीतर कांप उठी। यह उसने क्या किया था ? उसने एक पशु पाला था, जिसके हृदय में मनुष्य की सी वेदना थी।

घृणा से विक्षुब्ध होकर चमेली ने कहा, "क्यों रे, तूने चोरी की है ?"

गूंगा चुप हो गया। उसने अपना सिर झुका लिया। चमेली एक बार क्रोध से कांप उठी, देर तक उसकी ओर घूरती रही। सोचा—मारने से यह ठीक नहीं हो सकता। अपराध को स्वीकार कराके दण्ड न देना ही शायद कुछ असर करे। और फिर कौन मेरा अपना है। रहना हो तो ठीक से रहे, नहीं तो फिर जाकर सड़क पर कुत्तों की तरह जूठन पर जिन्दगी बिताए, दर-दर अपमानित और लांछित···

आगे बढ़कर गूंगे का हाथ पकड़ लिया और द्वार की ओर इशारा करके दिखाया—निकल जा !

गूंगा जैसे समझा नहीं। बड़ी-बड़ी आंखों को फाड़े देखता रहा। कुछ कहने को शायद एक बार होंठ भी खुले किन्तु कोई स्वर नहीं निकला। चमेली वैसी ही कठोर बनी रही। अब के मुंह से भी साथ-साथ—"जाओ, निकल जाओ। ढंग से काम नहीं करना है तो तुम्हारा यहां कोई काम नहीं। नौकर की तरह रहना है रहो, नहीं बाहर जाओ। यहां तुम्हारे नखरे कोई नहीं उठा सकता। किसीको भी इतनी फ़ुर्सत नहीं है। समझे ?"

और फिर चमेली आवेश में आकर चिल्ला उठी—"मक्कार, बदमाश ! पहले कहता था भीख नहीं मांगता, और सबसे भीख मांगता है। रोज़-रोज़ भाग जाता है, पत्ते चाटने की आदत पड़ गई है। कुत्ते की दुम

क्या कभी सीधी होगी ? नहीं ! नहीं रखना है हमें, जा तू इसी वक्त निकल जा···"

किन्तु वह क्षोभ, वह क्रोध, सब उसके सामने निष्फल हो गए, जैसे मन्दिर की मूर्ति कोई उत्तर नहीं देती, वैसे ही उसने भी कुछ नहीं कहा। केवल इतना समझ सका कि मालकिन नाराज है और निकल जाने को कह रही है। इसीपर उसे अचरज और अविश्वास तो रहा है।

चमेली अपने-आप लज्जित हो गई। कैसी मूर्खा है वह ! बहरे से जाने क्या-क्या कह रही थी ! वह क्या कुछ सुनता है ?

हाथ पकड़कर जोर से झटका दिया और उसे दरवाजे के बाहर धकेलकर निकाल दिया। गूंगा धीरे-धीरे चला गया। चमेली देखती रही।

करीब घंटे-भर बाद शकुन्तला और बसंता दोनों चिल्ला उठे—अम्मा ! अम्मा ! !

"क्या है ?" चमेली ने ऊपर ही से पूछा।

"गूंगा···" बसंता ने कहा। किन्तु कहने के पहले ही नीचे उतरकर देखा—गूंगा खून से भीग रहा था। उसका सिर फट गया था। वह सड़क के लड़कों से पिटकर आया था, क्योंकि गूंगा होने के नाते वह उनसे दबना नहीं चाहता था···दरवाजे की दहलीज पर सिर रख वह कुत्ते की तरह चिल्ला रहा था···

और चमेली चुपचाप देखती रही, देखती रही कि इस मूक अवसाद में युगों का हाहाकार भरकर गूंज रहा है।

और ये गूंगे···अनेक-अनेक हो संसार में भिन्न-भिन्न रूपों में छा गए हैं, जो कहना चाहते हैं पर कह नहीं पाते। जिनके हृदय की प्रतिहिंसा न्याय और अन्याय को परखकर भी अत्याचार को चुनौती नहीं दे सकती, क्योंकि बोलने के लिए स्वर होकर भी—स्वर में अर्थ नहीं है, क्योंकि वे असमर्थ हैं।

और चमेली सोचती है आज दिन ऐसा कौन है जो गूंगा नहीं है। किसका हृदय समाज, राष्ट्र, धर्म और व्यक्ति के प्रति विद्वेष से, घृणा से नहीं छटपटाता, किन्तु फिर भी कृत्रिम सुख की छलना अपने जालों में उसे नहीं फांस देती—क्योंकि वह स्नेह चाहता है, समानता चाहता है।

कहानी और कहानीकार

मोहन राकेश



मोहन राकेश का जन्म अमृतसर में हुआ। इनके पिता वकील होते हुए भी बहुत साहित्यानुरागी थे, अतः इन्हें बचपन से ही घर में पर्याप्त साहित्यिक वातावरण प्राप्त हुआ। एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर श्री राकेश डी०ए०वी० कॉलेज, जालंधर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर रहे। कुछ समय तक आपने 'सारिका' का सफल सम्पादन किया। बाद में स्वतन्त्र लेखन करते रहे।

मोहन राकेश उन कुछ कथाकारों में से थे जिन्होंने कहानी को एक गहराई और गरिमा प्रदान की है। 'इन्सान के खंडहर', 'नये बादल', 'एक और ज़िन्दगी' आदि आपके कहानी-संग्रह, और 'अंधेरे बंद कमरे', 'न आने वाला कल' प्रसिद्ध उपन्यास है। 'आषाढ का एक दिन' आपकी पुरस्कृत नाट्यकृति है।

प्रस्तुत कहानी

प्रस्तुत कहानी 'मलबे का मालिक' श्री राकेश की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। जात-पांत, धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर विभाजन पर 'मलबे का मालिक' में गहरा व्यंग्य है। देश-विभाजन पर हिन्दी ही नहीं, संभवतः भारतीय भाषाओं में लिखी कहानियों में यह श्रेष्ठ कहानी है। इस कहानी का दर्द देर तक मन को कचोटता रहता है।

मलबे का मालिक

(मोहन राकेश)

पूरे साढ़े सात साल के बाद वे लोग लाहौर से अमृतसर आए थे। हाकी का मैच देखने का तो बहाना ही था, उन्हें ज़्यादा चाव उन घरों और बाज़ारों को फिर से देखने का था, जो साढ़े सात साल पहले उनके लिए पराये हो गए थे। हर सड़क पर मुसलमानों की कोई न कोई टोली घूमती नज़र आ जाती थी। उनकी आंखें इस आग्रह के साथ वहां की हर चीज़ को देख रही थीं, जैसे वह शहर साधारण शहर न होकर एक खास आकर्षण-केन्द्र हो।

तंग बाज़ारों में से गुज़रते हुए वे एक-दूसरे को पुरानी चीज़ों की याद दिला रहे थे—देख, फतहदीना, मिसरी बाज़ार में अब मिसरी की दुकानें पहले से कितनी कम रह गई हैं! ···उस नुक्कड़ पर भटियारिन की भट्ठी थी, जहां अब यह पानवाला बैठा है।···यह नमकमण्डी देख लो, खान साहब!

बहुत दिनों के बाद बाज़ारों में तुर्रेदार पगड़ियां और लाल तुर्की टोपियां दिखाई दे रही थीं। लाहौर से आए हुए मुसलमानों में काफी संख्या ऐसे लोगों की थी, जिन्हें विभाजन के समय मजबूर होकर अमृतसर छोड़कर जाना पड़ा था। साढ़े सात साल में आए अनिवार्य परिवर्तनों को देखकर कहीं उनकी आंखों में हैरानी भर जाती और कहीं अफसोस घिर आता—वल्लाह! कटरा जयमलसिंह इतना चौड़ा कैसे हो गया? क्या इस तरफ के सब के सब मकान जल गए? ···यहां हकीम आसिफअली की दुकान थी न? अब यहां एक मोची ने कब्ज़ा कर रखा है।

और कहीं-कहीं ऐसे भी वाक्य सुनाई दे जाते—वली, यह मस्जिद ज्यों की त्यों खड़ी है? इन लोगों ने इसका गुरुद्वारा नहीं बना दिया?

जिस रास्ते से भी पाकिस्तानियों की टोली गुज़रती, शहर के लोग उत्सुकतापूर्वक उसकी ओर देखते रहते। कुछ लोग अब भी मुसलमानों को आते देखकर शंकित-से रास्ते से हट जाते थे, जब कि दूसरे आगे बढ़कर उनसे बगलगीर होने लगते थे। ज़्यादातर वे आगन्तुकों से ऐसे-ऐसे सवाल पूछते थे कि आजकल लाहौर का क्या हाल है? अनारकली में अब पहले जितनी रौनक होती है या नहीं? सुना है, शाहालमी गेट का बाज़ार पूरा नया बना है? कृष्णनगर में तो कोई खास तबदीली नहीं आई? वहां का रिश्वतपुरा क्या वाकई रिश्वत के पैसे से बना है? कहते हैं, पाकिस्तान में अब बुर्का बिलकुल उड़ गया है, यह ठीक है? ···इन सवालों में इतनी आत्मीयता झलकती थी कि लगता था लाहौर एक शहर नहीं, हज़ारों लोगों का सगा-सम्बन्धी है, जिसके हालात जानने के लिए वे उत्सुक हैं। लाहौर से आए हुए लोग उस दिन शहर-भर के मेहमान थे, जिनसे मिलकर और बातें करके लोगों को खामखाह खुशी का अनुभव होता था।

बाज़ार बांसां अमृतसर का एक उपेक्षित-सा बाज़ार है, जो विभाजन से पहले गरीब मुसलमानों की बस्ती थी। वहां ज़्यादातर बांस और शहतीर की ही दुकानें थीं, जो सब की सब एक ही आग में जल गई थीं। बाज़ार बांसां की आग अमृतसर की सबसे भयानक आग थी, जिससे कुछ देर के लिए तो सारे शहर के जल जाने का अंदेशा पैदा हो गया था। बाज़ार बांसां के आस-पास के कई मुहल्लों को तो उस आग ने अपनी लपेट में ले ही लिया था। खैर, किसी तरह वह आग काबू में आ तो गई, पर उसमें मुसलमानों के एक-एक घर के साथ हिन्दुओं के भी चार-चार, छः-छः घर जलकर राख हो गए। अब साढ़े सात साल में उनमें से कई इमारतें तो फिर खड़ी हो गई थीं, मगर जगह-जगह मलबे के ढेर अब भी मौजूद थे। नई इमारतों के बीच-बीच में मलबे के ढेर अजीब ही वातावरण प्रस्तुत करते थे।

बाज़ार बांसां में उस दिन भी चहल-पहल नहीं थी, क्योंकि उस बाज़ार के ज़्यादातर बाशिन्दे तो अपने मकानों के साथ ही शहीद हो गए थे और जो बचकर चले गए थे, उनमें शायद लौटकर आने की हिम्मत बाकी नहीं

रही थी। सिर्फ एक दुबला-पतला बुड्ढा मुसलमान ही उस वीरान बाज़ार में आया और वहां की नई और जली हुई इमारतों को देखकर जैसे भूल-भुलैया में पड़ गया। बायें हाथ को जाने वाली गली के पास पहुंचकर उसके कदम अन्दर मुड़ने को हुए, मगर फिर वह हिचकिचाकर वहां बाहर ही खड़ा रह गया, जैसे उसे निश्चय नहीं हुआ कि वह वही गली है या नहीं जिसमें वह जाना चाहता है। गली में एक तरफ कुछ बच्चे कीड़ी-काड़ा खेल रहे थे और कुछ अन्तर पर दो स्त्रियां ऊंची आवाज़ में चीखती हुई एक-दूसरे को गालियां दे रही थीं।

"सब कुछ बदल गया, मगर बोलियां नहीं बदलीं!" बुड्ढे मुसलमान ने धीमे स्वर में अपने से कहा और छड़ी का सहारा लिए खड़ा रहा। उसके घुटने पाजामे से बाहर को निकाल रहे थे और घुटनों के थोड़ा ऊपर ही उसकी शेरवानी में तीन-चार पैबन्द लगे थे। गली से एक बच्चा रोता हुआ बाहर को आ रहा था। उसने उसे पुचकारकर पुकारा, "इधर आ, बेटे, आ इधर! देख, तुझे चिज्जी देंगे, आ!" और वह अपनी जेब में हाथ डालकर उसे देने के लिए कोई चीज़ ढूंढ़ने लगा। बच्चा क्षण-भर के लिए चुप कर गया, लेकिन फिर उसने होंठ बिसूर लिए और रोने लगा। एक सोलह-सत्रह-बरस की लड़की गली के अन्दर से दौड़ती हुई आई और बच्चे की बांह पकड़कर उसे घसीटती हुई गली में ले चली। बच्चा रोने के साथ-साथ अपनी बांह छुड़ाने के लिए मचलने लगा। लड़की ने उसे बांहों में उठाकर अपने साथ चिपका लिया और उसका मुंह चूमती हुई बोली, "चुप कर, मेरा वीर! रोएगा तो तुझे वह मुसलमान पकड़कर ले जाएगा, मैं वारी जाऊं, चुप कर!"

बुड्ढे मुसलमान ने बच्चे को देने के लिए जो पैसा निकाला था, वह वापस जेब में रख लिया। सिर से टोपी उतारकर उसने वहां थोड़ा खुजलाया और टोपी बगल में दबा ली। उसका गला खुश्क हो रहा था और घुटने ज़रा-ज़रा कांप रहे थे। उसने गली के बाहर की बन्द दुकान के तख्ते का सहारा ले लिया और टोपी फिर से सिर पर लगा ली। गली के सामने जहां पहले ऊंचे-ऊंचे शहतीर रखे रहते थे, वहां अब एक तिमंज़िला मकान खड़ा था। सामने बिजली के तार पर दो मोटी-मोटी चीलें बिल्कुल जड़

होकर बैठी थीं। बिजली के खम्भे के पास थोड़ी धूप थी। वह कई पल धूप में उड़ते हुए ज़र्रों को देखता रहा। फिर उसके मुंह से निकला, "या मालिक!"

एक नवयुवक चाबियों का गुच्छा घुमाता हुआ गली की ओर आया और बुड्ढे को वहां खड़े देखकर उसने रुककर पूछा, "कहिए, मियां जी, यहां किस तरह खड़े हैं?"

बुड्ढे मुसलमान की छाती और बांहों में हल्की-सी कंपकंपी हुई और उसने होंठों पर ज़बान फेरकर नवयुवक को ध्यान से देखते हुए पूछा, "बेटे, तेरा नाम मनोरी नहीं है?"

नवयुवक ने चाबियों का गुच्छा हिलाना बन्द करके मुट्ठी में ले लिया और आश्चर्य के साथ पूछा, "आपको मेरा नाम कैसे पता है?"

"साढ़े सात साल पहले तू, बेटे, इतना-सा था!" कहकर बुड्ढे ने मुस्कराने की कोशिश की।

"आप आज पाकिस्तान से आए हैं?" मनोरी ने पूछा।

"हां, मगर पहले हम इसी गली में रहते थे।" बुड्ढे ने कहा, "मेरा लड़का चिरागदीन तुम लोगों का दर्ज़ी था। तकसीम से छः महीने पहले हम लोगों ने यहां अपना नया मकान बनाया था।"

"ओ ग़नी मियां!!" मनोरी ने पहचानकर कहा।

"हां, बेटे, मैं तुम लोगों का ग़नी मियां हूं! चिराग और उसके बीवी-बच्चे तो नहीं मिल सकते, मगर मैंने कहा कि एक बार मकान की सूरत ही देख लूं!" और उसने टोपी उतारकर सिर पर हाथ फेरते हुए आंसुओं को बहने से रोक लिया।

"आप तो शायद काफी पहले ही यहां से चले गए थे।" मनोरी ने स्वर में संवेदना लाकर कहा।

"हां, बेटे, मेरी बदबख्ती कि पहले अकेला निकलकर चला गया। यहां रहता तो उनके साथ मैं भी···" और कहते-कहते उसे अहसास हो आया कि उसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। उसने बात मुंह में रोक ली, मगर आंख में आए हुए आंसुओं को बह जाने दिया।

"छोड़िए, ग़नी साहब, अब बीती बातों को सोचने में क्या रखा है?" मनोरी ने ग़नी की बांह पकड़कर कहा, "आइए, आपको आपका घर

दिखा दूं ?"

गली में खबर इस रूप में फैली थी कि गली के बाहर एक मुसलमान खड़ा है, जो रामदासी के लड़के को उठाने जा रहा था···उसकी बहन उसे पकड़कर घसीट लाई, नहीं तो वह मुसलमान उसे ले गया होता। यह ख़बर पाते ही जो स्त्रियां गली में पीढ़े बिछाकर बैठी थीं, वे अपने-अपने पीढ़े उठाकर घरों के अन्दर चली गईं। गली में खेलते हुए बच्चों को भी उन स्त्रियों ने पुकार-पुकारकर घरों में बुला लिया। मनोरी जब ग़नी को लेकर गली में आया, तो गली में एक फेरीवाला रह गया था या कुएं के साथ उगे हुए पीपल के नीचे रक्खा पहलवान बिखरकर सोया था। घरों की खिड़कियों में से और किवाड़ों के पीछे से अलबत्ता कई चेहरे झांक रहे थे। ग़नी को गली में आते देखकर उनमें हल्की-हल्की चेमेगोइयां शुरू हो गईं। दाढ़ी के सब बाल सफेद हो जाने के बावजूद लोगों ने चिरागदीन के बाप अब्दुलग़नी को पहचान लिया था।

"वह आपका मकान था।" मनोरी ने दूर से एक मलबे की ओर संकेत किया। ग़नी पल-भर के लिए ठिठककर फटी-फटी आंखों से उसकी ओर देखता रहा। चिराग और उसके बीवी-बच्चों की मौत को वह काफी अर्सा पहले स्वीकार कर चुका था, मगर अपने नये मकान को इस रूप में देखकर उसे जो झुनझुनी हुई, उसके लिए वह तैयार नहीं था। उसकी ज़बान पहले से ज़्यादा खुश्क हो गई और घुटने भी और ज़्यादा कांपने लगे।

"वह मलबा ?" उसने अविश्वास के स्वर में पूछा।

मनोरी ने उसके चेहरे का बदला हुआ रंग देखा। उसने उसकी बांह को और सहारा देकर ठहरे हुए स्वर में उत्तर दिया, "आपका मकान उन्हीं दिनों जल गया था।"

ग़नी छड़ी का सहारा लेता हुआ किसी तरह मलबे के पास पहुंच गया। मलबे में अब मिट्टी ही मिट्टी थी, जिसमें जहां-तहां टूटी और जली हुई ईंटें फंसी थीं। लोहे और लकड़ी का सामान उसमें से न जाने कब का निकाल लिया गया था। केवल जले हुए दरवाज़े का चौखट न जाने कैसे बचा रह गया था, जो मलबे में से बाहर को निकला हुआ था। पीछे की ओर दो जली हुई अलमारियां और बाकी थीं, जिनकी कालिख पर अब सफेदी की

हल्की-हल्की तह उभर आई थी। मलबे को पास से देखकर ग़नी ने कहा, "यह रह गया है, यह ?" और जैसे उसके घुटने जवाब दे गए और वह जले हुए चौखट को पकड़कर बैठ गया। क्षण-भर बाद उसका सिर भी चौखट से जा लगा और उसके मुंह से बिलखने की-सी आवाज़ निकली, "ओए ! ओए चिरागदीना !"

जले हुए किवाड़ का चौखट साढ़े सात साल मलबे में सिर निकाले खड़ा तो रहा था, मगर उसकी लकड़ी बुरी तरह भुरभुरा गई थी। ग़नी के सिर के छूने से उसके कई रेशे झड़कर बिखर गए। कुछ रेशे ग़नी की टोपी और बालों पर आ गिरे। लकड़ी के रेशों के साथ एक केंचुआ भी नीचे गिरा, जो ग़नी के पैर से छः-आठ इंच दूर नाली के साथ बनी ईंटों की पटरी पर सरसराने लगा। वह अपने लिए सूराख ढूंढ़ता हुआ ज़रा-सा सिर उठाता, मगर दो-एक बार सिर पटककर और निराश होकर दूसरी ओर को मुड़ जाता।

खिड़कियों में से झांकने वाले चेहरों की संख्या पहले से कहीं बढ़ गई थी। उनमें चेमेगोइयां चल रही थीं कि आज कुछ न कुछ ज़रूर होगा··· चिरागदीन का बाप ग़नी आ गया है, इसलिए साढ़े सात साल पहले की सारी घटना आज खुल जाएगी। लोगों को लग रहा था, जैसे वह मलबा ही ग़नी को सारी कहानी सुना देगा कि शाम के वक्त चिराग ऊपर के कमरे में खाना खा रहा था, जब रक्खे पहलवान ने उसे नीचे बुलाया कि वह एक मिनट आकर एक ज़रूरी बात सुन जाए···पहलवान उन दिनों गली का बादशाह था। हिन्दुओं पर ही उसका काफी दबदबा था, चिराग तो खैर मुसलमान था। चिराग हाथ का कौर बीच में ही छोड़कर नीचे उतर आया। उसकी बीवी ज़ुबैदा और दोनों लड़कियां किश्वर और सुलताना खिड़कियों में से नीचे झांकने लगीं। चिराग ने ड्योढ़ी से बाहर कदम रखा ही था कि पहलवान ने उसे कमीज़ के कालर से पकड़कर खींच लिया और उसे गली में गिराकर उसकी छाती पर चढ़ बैठा। चिराग उसका छुरेवाला हाथ पकड़कर चिल्लाया, "न, रक्खे पहलवान, मुझे मत मार! हाय! मुझे बचाओ! ज़ुबैदा! मुझे बचा!" और ऊपर ज़ुबैदा, किश्वर और सुलताना हताश स्वर में चिल्लाईं। ज़ुबैदा चीखती हुई नीचे ड्योढ़ी की तरफ भागी। रक्खे

के एक शागिर्द ने चिराग की जद्दोजहद करती हुई बांहें पकड़ लीं और रक्खा उसकी जांघों को घुटनों से दबाए हुए बोला, "चीखता क्यों है··· तुझे पाकिस्तान दे रहा हूं, ले !" और ज़ुबैदा के नीचे पहुंचने से पहले ही उसने चिराग को पाकिस्तान दे दिया।

आस-पास के घरों की खिड़कियां बन्द हो गईं। जो लोग दृश्य के साक्षी थे, उन्होंने दरवाज़े बन्द करके अपने को इस घटना के उत्तरदायित्व से मुक्त कर लिया। बन्द किवाड़ों में भी उन्हें देर तक ज़ुबैदा, किश्वर और सुलताना के चीखने की आवाज़ें सुनाई देती रहीं। रक्खे पहलवान और उसके साथियों ने उन्हें भी उसी रात पाकिस्तान देकर विदा कर दिया, मगर दूसरे तवील रास्ते से। उनकी लाशें चिराग के घर में न मिलकर बाद में नहर के पानी में पाई गईं।

दो दिन तक चिराग के घर की खानातलाशी होती रही। जब उसका सारा सामान लूटा जा चुका, तो न जाने किसने उस घर को आग लगा दी। रक्खे पहलवान ने कसम खाई थी कि वह आग लगाने वाले को ज़िंदा ज़मीन में गाड़ देगा, क्योंकि उसने उस मकान पर नज़र रखकर ही चिराग को मारने का निश्चय किया था। उसने उस मकान को शुद्ध करने के लिए हवन-सामग्री भी खरीद रखी थी। मगर आग लगाने वाले का पता ही नहीं चल सका, उसे ज़िंदा गाड़ने की नौबत तो बाद में आती। अब साढ़े सात साल से रक्खा पहलवान उस मलबे को अपनी जागीर समझता आ रहा था, जहां न वह किसीको गाय-भैंस बांधने देता था और न खोंचा लगाने देता था। उस मलबे से बिना उसकी अनुमति के कोई ईंट भी नहीं उठा सकता था।

लोग आशा कर रहे थे कि यह सारी कहानी ज़रूर किसी न किसी तरह ग़नी के कानों तक पहुंच जाएगी···जैसे मलबे को देखकर उसे अपने आप ही सारी घटना का पता चल जाएगा। और ग़नी मलबे की मिट्टी नाखूनों से खोद-खोदकर अपने ऊपर डाल रहा था और दरवाज़े के चौखट को बांह में लिए रो रहा था, "बोल, चिरागदीना, बोल ! तू कहां चला गया, ओए ? ओ किश्वर ! ओ सुलताना ! हाय मेरे बच्चे, ओएऽऽ ! ग़नी को कहां छोड़ दिया, ओएऽऽऽ !"

और भुरभुरे किवाड़ से लकड़ी के रेशे झड़ते जा रहे थे।

पीपल के नीचे सोए हुए रक्खे पहलवान को जाने किसीने जगा दिया, या वह वैसे ही जाग गया। यह जानकर कि पाकिस्तान से अब्दुलग़नी आया है और अपने मकान के मलबे पर बैठा है, उसके गले में थोड़ा झाग उठ आया, जिससे उसे खांसी हो आई और उसने कुएं के फ़र्श पर थूक दिया। मलबे की ओर देखकर उसकी छाती से धौंकनी का-सा स्वर निकला और उसका निचला होंठ थोड़ा बाहर को फैल आया।

"ग़नी अपने मलबे पर बैठा है।" उसके शागिर्द लच्छे पहलवान ने उसके पास आकर बैठते हुए कहा। "मलबा उसका कैसे है ? मलबा हमारा है !" पहलवान ने झाग के कारण घरघराती हुई आवाज़ में कहा।

"मगर वह वहां पर बैठा है।" लच्छे ने आंखों में रहस्यमय संकेत लाकर कहा। "बैठा है, बैठा रहे, तू चिलम ला !" उसकी टांगें थोड़ी फैल गईं और उसने अपनी नंगी जांघों पर हाथ फेरा।

"मनोरी ने अगर उसे कुछ बताया-वताया, तो···?" लच्छे ने चिलम भरने के लिए उठते हुए उसी रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखकर कहा।

"मनोरी की शामत आई है ?"

लच्छा चला गया। कुएं पर पीपल की कई पुरानी पत्तियां बिखरी थीं। रक्खा उन पत्तियों को उठा-उठाकर हाथों में मसलता रहा। जब लच्छे ने चिलम के नीचे कपड़ा लगाकर उसके हाथ में दिया, तो उसने कश खींचते हुए पूछा, "और तो किसीसे ग़नी की बात नहीं हुई ?"

"नहीं।"

"ले।" और उसने खांसते हुए चिलम लच्छे के हाथ में दे दी। लच्छे ने देखा कि मनोरी मलबे की तरफ से ग़नी की बांह पकड़े हुए आ रहा है। वह उकड़ूं होकर चिलम के लम्बे-लम्बे कश खींचने लगा। उसकी आंखें आधा क्षण रक्खे के चेहरे पर टिकतीं और आधा क्षण ग़नी की ओर लगी रहतीं।

मनोरी ग़नी की बांह पकड़े हुए उससे एक कदम आगे चल रहा था, जैसे उसकी कोशिश हो कि ग़नी कुएं के पास से बिना रक्खे पहलवान को देखे ही निकल जाए। मगर रक्खा जिस तरह बिखरकर बैठा था, उससे ग़नी ने उसे दूर से देख लिया। कुएं के पास पहुंचते न पहुंचते उसकी दोनों बांहें फैल गईं और उसने कहा, "रक्खे पहलवान !"

रक्खे ने गरदन उठाकर और आंखें ज़रा छोटी करके उसे देखा। उसके गले में अस्पष्ट-सी घरघराहट हुई, पर वह बोला कुछ नहीं।

"रक्खे पहलवान, मुझे पहचाना नहीं ?" ग़नी ने बांहें नीची करके कहा, "मैं ग़नी हूं, अब्दुलग़नी, चिरागदी का बाप !"

पहलवान ने संदेहपूर्ण दृष्टि से उसका ऊपर से नीचे तक जायजा किया। अब्दुलग़नी की आंखों में उसे देखकर चमक आ गई थी। सफेद दाढ़ी के नीचे उसके चेहरे की झुर्रियां ज़रा फैल गई थीं। रक्खे का निचला ओठ फड़का, फिर उसकी छाती से भारी-सा स्वर निकला, "सुना, ग़निया !"

ग़नी की बांहें फिर फैलने को हुईं, परन्तु पहलवान पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर उसी तरह रह गईं। वह पीपल के तने का सहारा लेकर कुएं की सिल पर बैठ गया।

ऊपर खिड़कियों में चेमेगोइयां तेज़ हो गईं कि अब दोनों आमने-सामने आ गए हैं, तो बात ज़रूर खुलेगी···फिर हो सकता है, दोनों में गाली-गलौज भी हो···अब रक्खा ग़नी को कुछ नहीं कह सकता, अब वो दिन नहीं रहे···बड़ा मलबे का मालिक बनता था ! ···असल में मलबा न इसका है, न ग़नी का। मलबा तो सरकार की मिलकियत है···किसीको गाय का खूंटा नहीं लगाने देता।···मनोरी भी डरपोक है। इसने ग़नी को बताया क्यों नहीं कि रक्खे ने ही चिराग और उसके बीवी-बच्चों को मारा है···रक्खा आदमी नहीं, सांड है। दिन-भर सांड की तरह गली में घूमता है···ग़नी बेचारा कितना दुबला हो गया है ! दाढ़ी के सारे बाल सफेद हो गए !···

ग़नी ने कुएं की सिल पर बैठकर कहा, "देख, रक्खे पहलवान, क्या से क्या रह गया है ! भरा-पूरा घर छोड़कर गया था, और आज यहां मिट्टी देखने आया हूं। बसे हुए घर की यही निशानी रह गई है। तू सच पूछे, रक्खे, तो मेरा यह मिट्टी भी छोड़कर जाने को जी नहीं करता !" और उसकी आंखें छलछला आईं।

पहलवान ने फैली हुई टांगें समेट लीं और अंगोछा कुएं की मुंडेर से उठाकर कंधे पर डाल लिया। लच्छे ने चिलम उसकी तरफ़ बढ़ा दी और वह कश खींचने लगा। "तू बता, रक्खे, यह सब हुआ किस तरह ?" ग़नी आंसू रोकता हुआ आग्रह के साथ बोला, "तुम लोग उसके पास थे,

सबमें भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी, अगर वह चाहता तो वह तुममें से किसीके घर में नहीं छिप सकता था ? उसे इतनी भी समझ नहीं आई ?"

"ऐसा ही है।" रक्खे को स्वयं लगा कि उसकी आवाज में कुछ अस्वाभाविक-सी गूंज है। उसके होंठ गाढ़े लार से चिपक-से गए थे। उसकी मूंछों के नीचे से पसीना उसके होंठों पर आ रहा था। उसके माथे पर किसी चीज़ का दबाव पड़ रहा था और उसकी रीढ़ की हड्डी सहारा चाह रही थी।

"पाकिस्तान का क्या हाल है ?" उसने वैसे ही स्वर में पूछा। उसके गले की नसों में तनाव आ गया था। उसने अंगोछे से बगलों का पसीना पोंछा और गले का झाग मुंह में खींच-खींचकर गली में थूक दिया।

"मैं क्या हाल बताऊं, रक्खे!" ग़नी दोनों हाथों से छड़ी पर ज़ोर देकर झुकता हुआ बोला, "मेरा हाल पूछे, तो वह मेरा खुदा ही जानता है। मेरा चिराग साथ होता, तो और बात थी···रक्खे, मैं उसे समझा हटा था कि मेरे साथ चला चल। मगर वह अड़ रहा कि नया मकान छोड़कर कैसे जाऊं, यहां अपनी गली है, कोई खतरा नहीं है। भोले कबूतर ने यह नहीं सोचा कि गली में खतरा न सही, बाहर से तो खतरा आ सकता है ? मकान की रखवाली के लिए चारों जनों ने जान दे दी ! ···रक्खे, उसे तेरा बहुत भरोसा था। कहता था कि रक्खे के रहते कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मगर जब आनी आई, तो रक्खे के रोके भी न रुक सकी।"

रक्खे ने सीधा होने की चेष्टा की, क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी दर्द कर रही थी। उसे अपनी कमर और जांघों के जोड़ पर सख्त दबाव महसूस हो रहा था। पेट की अंतड़ियों के पास जैसे कोई चीज़ उसकी सांस को जकड़ रही थी। उसका सारा जिस्म पसीने से भीग गया था और उसके पैरों के तलुवों में चुनचुनाहट हो रही थी। बीच-बीच में नीली फुलझड़ियां-सी ऊपर से उतरतीं और उसकी आंखों के सामने से तैरती हुई निकल जातीं। उसे अपनी ज़बान और होंठों के बीच का अन्तर कुछ ज़्यादा महसूस हो रहा था। उसने अंगोछे से होंठों के कोनों को साफ किया और उसके मुंह से निकला, "हे प्रभु सच्चिआ, तू ही है, तू ही है, तू ही है !"

ग़नी ने लक्षित किया कि पहलवान के होंठ सूख रहे हैं और उसकी आंखों के इर्द-दिर्द दायरे गहरे हो आए हैं, तो वह उसके कंधे पर हाथ रख-

कर बोला, "जी हल्कान न कर, रक्खे … कोई लौटा थोड़े ही सकता है ? खुदा … माफ करे ! मेरे लिए चिराग नहीं, तो … इतनी ही तसल्ली हुई कि उस ज़माने की को… देख लिया, तो चिराग को देख लिया । अल्लाह तु… रखे ! जीते रहो और खुशियां देखो !" और ग़नी छ… उठ खड़ा हुआ; चलते हुए उसने फिर कहा, "रक्खे पहलवान, याद…

रक्खे के गले में स्वीकृति की मद्धम-सी आवाज़ निकली । अंगोछा बीच में लिए हुए उसके दोनों हाथ जुड़ गए । ग़नी गली के वातावरण को हसरत-भरी नज़र से देखता हुआ धीरे-धीरे गली से बाहर चला ।

ऊपर खिड़कियों में थोड़ी देर चेमेगोइयां चलती रहीं कि मनोरी ने गली से बाहर निकलकर ज़रूर ग़नी को सब कुछ बता दिया होगा… ग़नी के सामने रक्खे का तालू किस तरह खुश्क हो गया था ? … रक्खा अब किस मुंह से लोगों को मलवे पर गाय बांधने से रोकेगा ? … बेचारी ज़ुबैदा ! बेचारी कितनी अच्छी थी ! कभी किसी से मन्दा बोल नहीं बोली … रक्खे मरदूद का न घर न घाट, इसे किस मां-बहन का लिहाज़ था ?

और थोड़ी ही देर में स्त्रियां घरों से गली में उतर आईं, बच्चे गली में गुल्ली-डण्डा खेलने लगे और दो बारह-तेरह बरस की लड़कियां किसी बात पर एक-दूसरी से गुत्थमगुत्था हो गईं ।

रक्खा गहरी शाम तक कुएं पर बैठा खंखारता और चिलम फूंकता रहा । कई लोगों ने वहां से गुज़रते हुए उससे पूछा, "रक्खेशाह, सुना है, आज ग़नी पाकिस्तान से आया था ?"

"आया था ।" रक्खे ने हर बार एक ही उत्तर दिया ।

"फिर ?"

"फिर कुछ नहीं, चला गया ।"

रात होने पर पहलवान रोज़ की तरह गली के बाहर बाईं ओर की दुकान के तख्ते पर आ बैठा । रोज़ अक्सर वह रास्ते से … रने वाले परिचित लोगों को आवाज़ देकर बुला लेता था … के गुर और … को अपनी सेहत के नुस्खे बताया करता था, मगर उस …

सबमें भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी, … किसीके घर में नहीं छिप सकता था … रहा, जो उसने पन्द्रह साल पहले

"ऐसा ही है ।" रक्खे को स्वः … गली में आया, तो मलवे के पास लोक… भाविक-सी गूंज है । उसके होंटकर वह रोज़ की आदत के मुताबिक उसे के नीचे से पसीना उसके हों… तत्-तत्-तत् … तत्-तत् … का दबाव पड़ रहा था … कर वह सुस्ताने के लिए मलवे के चौखट पर बैठ

"पाकिस्तान समय बिलकुल सुनसान थी । कमेटी की कोई बत्ती न होने गले की शाम से ही अंधेरा हो जाता था । मलवे के नीचे नाली का पानी हल्की आवाज़ करता हुआ वह रहा था । रात की खामोशी के साथ मिली हुई कई तरह की हल्की-हल्की आवाज़ें मलवे की मिट्टी में से निकल रही थीं —च्यु-च्यु-च्यु … चिक्-चिक्-चिक् … चिर्र्र्र्-इर्र्र्र्-रीरीरीरी-चिर्र्-र्र् — एक भटका हुआ कौवा न जाने कहां से उड़कर लकड़ी के चौखट पर आ बैठा । उससे लकड़ी के रेशे इधर-उधर छितरा गए । कौए के वहां बैठते न बैठते मलवे के एक कोने में लेटा हुआ कुत्ता गुर्राकर उठा और ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा : वऊ-अऊ-अऊऽऽ-वऊ ! कौआ कुछ देर सहमा-सा चौखट पर बैठा रहा, फिर वह पंख फड़फड़ाता हुआ उड़कर कुएं के पीपल पर चला गया । कौए के उड़ जाने पर कुत्ता और नीचे उतर आया और पहलवान की ओर मुंह करके भौंकने लगा । पहलवान उसे हटाने के लिए भारी आवाज़ में बोला—दुर्-दुर्-दुर् … दुरे !

मगर कुत्ता और पास आकर भौंकने लगा: वउ-अउ-वउ-वउ-वउ-वउ !

—हट-हट, दुर्र्र्र्-दुर्र्र्र् दुरे ! …

—वउ-अऊऽऽ-अउ-अउ-अउ-अउ ! …

पहलवान ने एक ढेला उठाकर कुत्ते की ओर फेंका । कुत्ता थोड़ा पीछे हट गया, पर उसका भौंकना बन्द नहीं हुआ । पहलवान मुंह ही मुंह कुत्ते की मां को गाली देकर वहां से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे जाकर कुएं की सिल पर लेट गया । पहलवान के वहां से हटने पर कुत्ता गली में उतर आया और कुएं की ओर मुंह करके भौंकने लगा । काफी देर भौंककर जब गली में उसे कोई प्राणी चलता-फिरता दिखाई नहीं दिया, तो वह एक बार कान झटकाकर मलवे पर लौट आया और वहां कोने में बैठकर गुर्राने लगा ।

० ० ०

सबमें भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी, इ

किसीके घर में नहीं छिप सकता था ाा रहा, जो उसने पन्द्रह साल पहले

"ऐसा ही है।" रक्खे को स्वहं गली में आया, तो मलबे के पास लोकू भाविक-सी गूंज है। उसके होंटकर वह रोज़ की आदत के मुताबिक उसे के नीचे से पसीना उसके हों-तत्-तत्-तत्···तत्-तत्···

का दबाव पड़ रहा थ्ट।कर वह सुस्ताने के लिए मलबे के चौखट पर बैठ

"पाकिस्तान समय बिलकुल सुनसान थी। कमेटी की कोई बत्ती न होने गले की शाम से ही अंधेरा हो जाता था। मलबे के नीचे नाली का पानी हल्की आवाज़ करता हुआ बह रहा था। रात की खामोशी के साथ मिली हुई कई तरह की हल्की-हल्की आवाज़ें मलबे की मिट्टी में से निकल रही थीं —च्युं-च्युं-च्युं···चिक्-चिक्-चिक्···चिर्र्र्र्-इर्र्र्र्-रीरीरीरी-चिर्र्-र्र्···एक भटका हुआ कौवा न जाने कहां से उड़कर लकड़ी के चौखट पर आ बैठा। उससे लकड़ी के रेशे इधर-उधर छितरा गए। कौए के वहां बैठते न बैठते मलबे के एक कोने में लेटा हुआ कुत्ता गुर्राकर उठा और ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा : वऊ-अऊ-अऊऽऽ-वऊ! कौआ कुछ देर सहमा-सा चौखट पर बैठा रहा, फिर वह पंख फड़फड़ाता हुआ उड़कर कुएं के पीपल पर चला गया। कौए के उड़ जाने पर कुत्ता और नीचे उतर आया और पहलवान की ओर मुंह करके भौंकने लगा। पहलवान उसे हटाने के लिए भारी आवाज़ में बोला—दुर्-दुर्-दुर्···दुरे!

मगर कुत्ता और पास आकर भौंकने लगा: वउ-अउ-वउ-वउ-वउ-वउ!

—हट-हट, दुर्र्र्र्-दुर्र्र्र् दुरे! ···

—यउ-अऊऽऽ-अउ-अउ-अउ-अउ! ···

पहलवान ने एक ढेला उठाकर कुत्ते की ओर फेंका। कुत्ता थोड़ा पीछे हट गया, पर उसका भौंकना बन्द नहीं हुआ। पहलवान मुंह ही मुंह कुत्ते की मां को गाली देकर वहां से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे जाकर कुएं की सिल पर लेट गया। पहलवान के वहां से हटने पर कुत्ता गली में उतर आया और कुएं की ओर मुंह करके भौंकने लगा। काफी देर भौंककर जब गली में उसे कोई प्राणी चलता-फिरता दिखाई नहीं दिया, तो वह एक बार कान झटकाकर मलबे पर लौट आया और वहां कोने में बैठकर गुर्राने लगा।

● ● ●